जैनधर्म की कहानियाँ

(22 परीषह : एक संवाद के रूप में)

भाग – 26

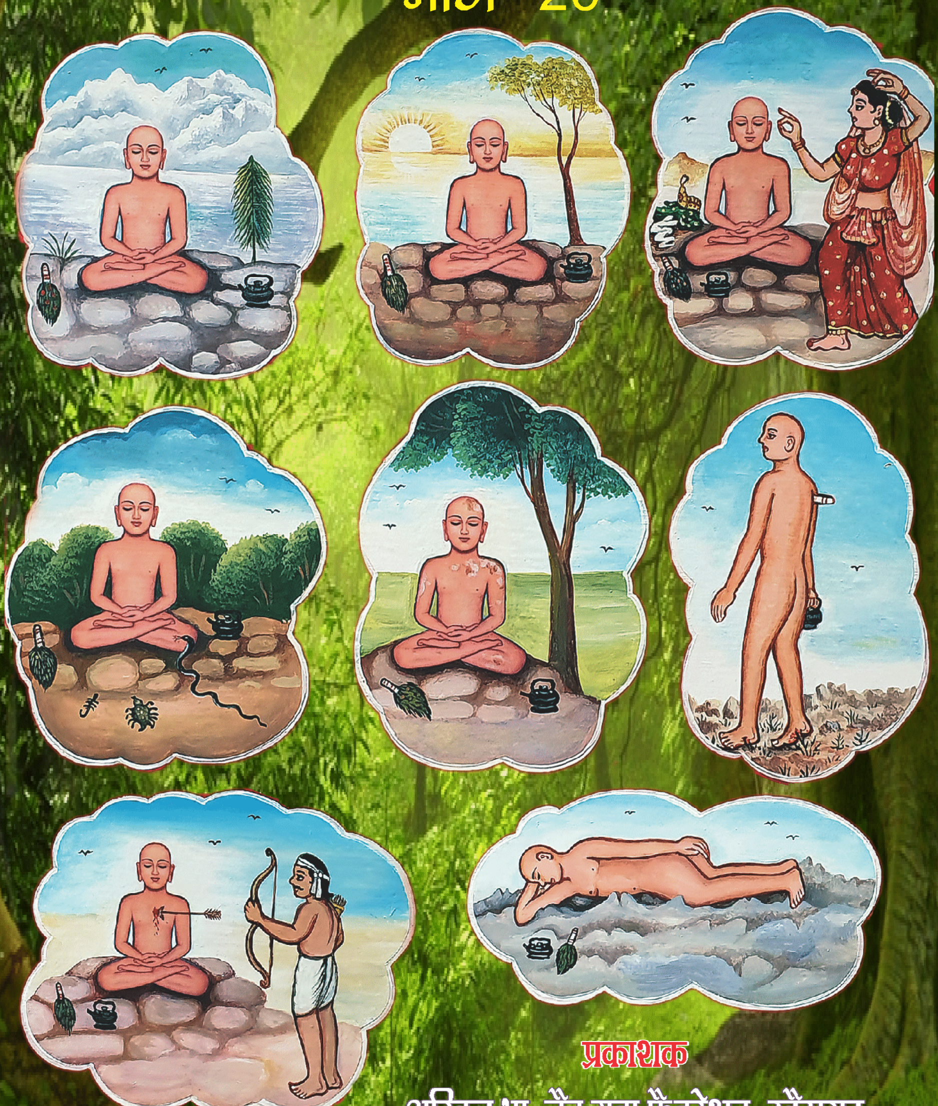

प्रकाशक

अखिल भा. जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़

श्री कहान स्मृति प्रकाशन, सोनगढ़

श्री खेमराज गिड़िया
जन्म : 27 दिसम्बर, 1918
देहविलय : 4 अप्रेल, 2003

श्रीमती धुड़ीबाई गिड़िया
जन्म : 1922
देहविलय : 24 नवम्बर, 2012

आप दोनों के विशेष सहयोग से सन् १९८८ में **श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया** ग्रन्थमाला की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष धार्मिक साहित्य एवं पौराणिक कथाएँ प्रकाशित करने की योजना का शुभारम्भ हुआ। इस ग्रन्थमाला के संस्थापक श्री खेमराज गिड़िया का संक्षिप्त परिचय देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं –

जन्म : सन् १९१८ चांदरख (जोधपुर)
पिता : श्री हंसराज, **माता :** श्रीमती मेहंदीबाई

शिक्षा/व्यवसाय : प्रायमरी शिक्षा प्राप्त कर मात्र १२ वर्ष की उम्र में ही व्यवसाय में लग गए।
सत्-समागम : सन् १९५० मेंपूज्य श्रीकानजीस्वामी का परिचय सोनगढ़ में हुआ।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा : सन् १९५३ में मात्र ३४ वर्ष की आयु में पूज्य स्वामीजी से सोनगढ़ में अल्पकालीन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेकर धर्मसाधन में लग गये।

विशेष : भावनगर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में भगवान के माता-पिता बने।

सन् १९५९ में खैरागढ़ में दिग. जिनमंदिर निर्माण कराया एवं पूज्य गुरुदेवश्री के शुभहस्ते प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग दिया।

सन् १९८८ में ७० यात्रियों सहित २५ दिवसीय दक्षिण तीर्थयात्रा संघ निकाला एवं व्यवसाय से निवृत्त होकर अधिकांश समय सोनगढ़ में रहकर आत्म-साधना करते थे।

हम हैं आपके बताए मार्ग पर चलनेवाले

पुत्र : दुलीचन्द, पन्नालाल, मोतीलाल, प्रेमचंद एवं समस्त गिड़िया कुटुम्ब।

पुत्रियाँ : ब्र. ताराबेन एवं ब्र. मैनाबेन।

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का ३४ पुष्प

जैनधर्म की कहानियाँ

(बाईस परीषह एक संवाद के रूप में)

(भाग - २६)

लेखक :

पण्डित रमेशचन्द शास्त्री, जयपुर

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़ – ४९१ ८८१

मो. ९४२४१११४८८

और

श्री कहान स्मृति प्रकाशन, कहान रश्मि, सोनगढ़

मो. ८६१९९७५९६५, ९४१४७१७८१६

प्रस्तुत संस्करण - १००० प्रतियाँ, कुल : ३१०० प्रतियाँ
दशलक्षण पर्व, (सितम्बर, २०२४)

न्यौछावर : 30 रुपये मात्र

अनुक्रमणिका

❖ अपनी बात	9
❖ मंगलाचरण	13
❖ 22 परीषह : सामान्य परिचय	15
1. क्षुधा-परीषहजय	23
2. तृषा परीषहजय	23
3. शीत परीषहजय	33
4. उष्ण परीषहजय	33
5. दंशमशक-परीषहजय	42
6. नग्न-परीषहजय	51
7. अरति परीषहजय	57
8. स्त्री परीषहजय	63
09. चर्या परीषहजय	71
10. शय्या परीषहजय	71
11. निषद्या परीषहजय	71
12. आक्रोश परीषहजय	83
13. वध परीषहजय	91
14. याचना परीषहजय	99
15. अलाभ परीषहजय	99
16. रोग परीषहजय	99
17. तृणस्पर्श परीषहजय	108
18. मल परीषहजय	112
19. सत्कार-पुरस्कार परीषहजय	117
20. प्रज्ञा परीषहजय	122
21. अज्ञान परीषहजय	129
22. अदर्शन परीषहजय	139

प्राप्ति स्थान

१. पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

२. पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली
कहाननगर, वेलतगांव रास्ता, लामरोड, देवलाली, नासिक-४२२ ४०१

३. तीर्थधाम मंगलायतन, पो.- सासनी-२०४ २१६ जिला- हाथरस (उ.प्र.)

४. श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, आचार्य कुन्दकुन्द नगर,
सोनागिर सिद्धक्षेत्र-४७५ ६८५, जिला-दतिया (म.प्र.)

५. श्री रमेशचंद जैन, जयपुर मो. ८६१९९ ७५९६५, ९४१४७१७८१६

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन २६ दिसम्बर, १९८० को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत् स्वामीजी का सी. डी.व सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, मासिक विधान आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् १९८८ में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि संरक्षक सदस्य ५१००१/- में, शिरोमणि संरक्षक सदस्य ३१००१/- में तथा परम संरक्षक सदस्य २१००१/- संरक्षक सदस्य ११००१/- में एवं परम सहायक सदस्य ५००१/- बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. २५०६ में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा। तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग १ से ३१ तक एवं लघु जिनवाणी संग्रह : अनुपम संग्रह, चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट, अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स) – इसप्रकार ४२ पुष्पों में लगभग ७ लाख ३४ हजार से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित होकर पूरे विश्व में धार्मिक संस्कार सिंचन का कार्य कर रही हैं।

इसमें कर्मों की निर्जरा के हेतुभूत २२ परीषहों का सामान्य परिचय तो दिया ही गया है, साथ ही प्रत्येक परीषह पर एक काल्पनिक चर्चा के रूप में परीषहजयी मुनिराज परीषहों पर कैसे विजय प्राप्त करते हैं – यह परस्पर संवाद के माध्यम से कथानक के रूप में सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

संवादों का लेखन कार्य पण्डित रमेशचन्द शास्त्री, जयपुर ने किया है। अत: हम उनके आभारी हैं।

सभी वर्ग के लोगों द्वारा इनका लाभ लिये जाने से इनकी निरन्तर मांग बनी हुई है। आशा है इसका स्वाध्याय कर सभी पाठक गण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे। साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला परमशिरोमणि संरक्षक, शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत:

मोतीलाल जैन
अध्यक्ष

पं. अभय जैन शास्त्री
साहित्य प्रकाशन प्रमुख

पुस्तक प्राप्ति, सहयोग राशि एवं बिल भुगतान शांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर ट्रस्ट, खैरागढ़ के नाम से भारतीय स्टेट बैंक, खैरागढ़ खाता क्रमांक 10743382296 IFSC-SBIN0000524 में जमा कराके, निम्न मो. नं. 9424111488 पर सूचना देकर रसीद प्राप्त कर सकते हैं।

विनम्र आदराञ्जली

जन्म		स्वर्गवास
१/१२/१९७८	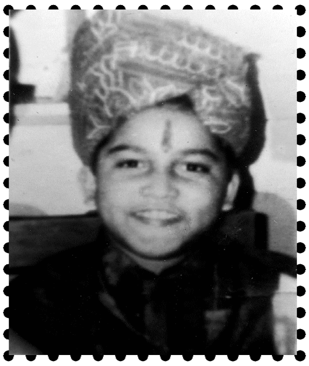	२/२/१९९३
(खैरागढ़, म.प्र.)		(दुर्ग पंचकल्याणक)

स्व. तन्मय (पुखराज) गिड़िया

अल्पवय में अनेक उत्तम संस्कारों से सुरभित, भारत के सभी तीर्थों की यात्रा, पर्वों में यम-नियम में कट्टरता, रात्रि भोजन त्याग, टी.वी. देखना त्याग, देवदर्शन, स्वाध्याय, पूजन आदि छह आवश्यक में हमेशा लीन, सहनशीलता, निर्लोभता, वैरागी, सत्यवादी, दान शीलता से शोभायमान तेरा जीवन धन्य है।

अल्पकाल में तेरा आत्मा असार-संसार से मुक्त होगा (वह स्वयं कहता था कि मेरे अधिक से अधिक ३ भव बाकी हैं।) चिन्मय तत्त्व में सदा के लिए तन्मय हो जावे – ऐसी भावना के साथ यह वियोग का वैराग्यमय प्रसंग हमें भी संसार से विरक्त करके मोक्षपथ की प्रेरणा देता रहे - ऐसी भावना है।

हम हैं

दादा	स्व. श्री कंवरलाल जैन	**दादी**	स्व. मथुराबाई जैन
पिता	श्री मोतीलाल जैन	**माता**	श्रीमती शोभादेवी जैन
बुआ	श्रीमती ढेलाबाई	**फूफा**	स्व. तेजमाल जैन
जीजा	श्री शुद्धात्मप्रकाश जैन	**जीजी**	सौ. श्रद्धा जैन, विदिशा
जीजा	श्री योगेशकुमार जैन	**जीजी**	सौ. क्षमा जैन, धमतरी

ग्रन्थमाला सदस्यों की सूची

परमशिरोमणि संरक्षक सदस्य
श्रीमती सूरजबेन अमुलखभाई सेठ, मुम्बई
एक मुमुक्षु परिवार दादर ह. जयसुखभाई खाटड़ीया
पारसमल महेन्द्रकुमार जैन, ह. सरिता बेन तेजपुर
श्री निर्मलजी बरडिया स्मृति ह. प्रभा जैन राजनांदगांव

शिरोमणि संरक्षक सदस्य
श्री हेमल भीमजी भाई शाह, लन्दन
श्री विनोदभाई देवसीभाई कचराभाई शाह, लन्दन
श्री स्वयं शाह ओस्त्रो ह. शीतल विजेन, लन्दन
श्रीमती ज्योत्सना बेन विजयकान्त शाह, अमेरिका
श्रीमती मनोरमादेवी विनोदकुमार, जयपुर
पं. श्री कैलाशचन्द पवनकुमार जैन, अलीगढ़
श्री जयन्तीलाल चिमनलाल शाह ह. सुशीलाबेन अमेरिका
श्रीमती सोनिया समीत भायाणी प्रशांत भायाणी, अमेरिका
श्रीमती ऊषाबेन प्रमोद सी. शाह, शिकागो
श्रीमती कुसुमबेन चन्द्रकान्तभाई शाह, मुलुण्ड

परमसंरक्षक सदस्य
झनकारीबाई खेमराज बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट,खैरागढ़
मीनाबेन सोमचन्द भगवानजी शाह, लन्दन
श्री अभिनन्दनप्रसाद जैन, सहारनपुर
श्रीमती ज्योत्सना महेन्द्र मणीलाल मलाणी, माटुंगा
ब्र. कुसुम जैन, कुम्भोज बाहुबली
श्रीमती पुष्पलता अजितकुमारजी, छिन्दवाड़ा
सौ. सुमन जैन जयकुमारजी जैन डोगरगढ़
स्व. मनहरभाई ह. अभयभाई इन्द्रजीतभाई, मुम्बई
श्री निलय ढेढिया, पार्ला मुम्बई
श्री कुन्दकुन्द कहान जैन तत्त्वप्रचार समिति, दादर
पीनल बेन प्रकाशभाई संघवी, घाटकोपर
मीताबेन परिवार बोरीबली
श्रीमती समता–अमितकुमार जैन, कानपुर
श्रीमती पुष्पा बेन रायसीभाई गाड़ा, घाटकोपर
धरणीधर हीराचंद दामाणी, सोनगढ़
श्रीमती रीमा-विकाश सेठी अंधेरी ह. बेलाबेन सोनी

संरक्षक सदस्य
श्रीमती शान्तिदेवी कोमलचंद जैन, नागपुर
श्रीमती पुष्पाबेन कांतिभाई मोटाणी, बम्बई
श्रीमती हंसुबेन जगदीशभाई लोदरिया, बम्बई
श्रीमती लीलादेवी श्री नवरत्नसिंह चौधरी, भिलाई
श्रीयुत प्रशान्त-अक्षय-सुकान्त-केवल, लन्दन
श्रीमती पुष्पाबेन भीमजीभाई शाह, लन्दन
श्री सुरेशभाई मेहता, बम्बई एवं श्री दिनेशभाई, मोरबी
श्री महेशभाई, बम्बई, प्रकाशभाई मेहता, राजकोट
श्री रमेशभाई नेपाल, श्री राजेशभाई मेहता, मोरबी
श्रीमती वसंतबेन जेवंतलाल मेहता, मोरबी
स्व.हीराबाई, हस्ते-श्री प्रकाशचंद मालू, रायपुर
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, खैरागढ़
स्व. मथुराबाई कँवरलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती कंचनदेवी दुलीचन्द जैन गिड़िया, खैरागढ़
दमयन्तीबेन हरीलाल शाह चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई
श्रीमती रूपाबैन जयन्तीभाई ब्रोकर, मुम्बई
श्री जम्बूकुमार सोनी, इन्दौर
श्रीमती स्नेहलता ध.प. जैनबहादुरजी जैन, कानपुर
श्रीमती विमलाबाई सुरेशचंद जैन, कोलकाता
स्व. अमराबाई-घेवरचंद ह. नरेन्द्र डाकलिया, नांदगांव
श्रीमती सुशीला बेन सुरेशभाई शाह, अहमदावाद
श्रीमती सुशीलाबाई उत्तमचंद गिड़िया, रायपुर
श्री बाबूलाल तोताराम लुहाड़िया, भुसावल
श्री तुषार नलिनकांत देसाई, पालड़ी
श्री ज्योत्सना बेन भूपतभाई शाह, देवलाली
श्रीमती रसिला बेन हंसमुख भाई शाह, अमेरिका

परम सहयोगी सदस्य
श्रीमती शोभादेवी मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती ढेलाबाई तेजमाल नाहटा, खैरागढ़
श्री शैलेषभाई जे. मेहता, नेपाल
ब्र. ताराबेन ब्र. मैनाबेन, सोनगढ़
श्रीमती चन्द्रकला गौतमचन्द बोथरा, भिलाई
श्रीमती गुलाबबेन शांतिलाल जैन, भिलाई
श्रीमती राजकुमारी महावीरप्रसाद सरावगी, कलकत्ता
श्रीमती ममता-रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर
श्री प्रफुल्लचन्द संजयकुमार जैन, भिलाई
स्व. लुनकरण, झीपुबाई कोचर, कटंगी
श्रीमती पुष्पाबेन चन्दुलाल मेघाणी, कलकत्ता
स्व. कंकुबेन रिखबदास जैन ह. शांतिभाई, बम्बई
एक मुमुक्षुभाई, ह. सुकमाल जैन, दिल्ली

स्व. रामलाल पारख, ह. नथमल नांदगांव
श्रीमती जैनाबाई, भिलाई ह. कैलाशचन्द शाह
सौ. रमाबेन नटवरलाल शाह, जलगाँव
श्री फूलचंद विमलचंद झांझरी, उज्जैन
श्रीमती पतासीबाई तिलोकचंद कोठारी, जालबांधा
श्री छोटालाल केशवजी भायाणी, बम्बई
श्रीमती जशवंतीबेन बी. भायाणी, घाटकोपर
स्व. भैरोदान संतोषचन्द कोचर, कटंगी
श्री तखतराज कांतिलाल जैन, कलकत्ता
श्रीमती सुधा सुबोधकुमार सिंघई, सिवनी
गुप्तदान, हस्ते – चन्द्रकला बोथरा, भिलाई
सौ. कमलाबाई कन्हैयालाल डाकलिया, खैरागढ़
श्री सुगालचंद विरधीचंद चोपड़ा, जबलपुर
श्रीमती सुनीतादेवी कोमलचन्द कोठारी, खैरागढ़
श्रीमती स्वर्णलता राकेशकुमार जैन, नागपुर
श्रीमती कंचनदेवी पन्नालाल गिड़िया, खैरागढ़
श्री शान्तिकुमार कुसुमलता पाटनी, छिन्दवाड़ा
श्री छीतरमल बाकलीवाल, जैन ट्रेडर्स, पीसांगन
श्री किसनलाल देवड़िया ह. जयकुमारजी, नागपुर
श्री सुदीपकुमार गुलाबचन्द, नागपुर
सौ. शीलाबाई मुलामचन्दजी, नागपुर
सौ. मोतीदेवी मोतीलाल फलेजिया, अहमदाबाद
समकित महिला मंडल, डोंगरगढ़
श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल, सागर
सौ. शांतिदेवी धनकुमार जैन, सूरत
श्री चिन्द्रूप शाह, ह. श्री दिलीपभाई बम्बई
स्व. फेफाबाई पुसालालजी, बैंगलोर
ललितकुमार डॉ. श्री तेजकुमार गंगवाल, इन्दौर
स्व. नोकचन्दजी, ह. केशरीचंद सावा सिल्हाटी
कु. वंदना पन्नालालजी जैन, झाबुआ
कु. मीना राजकुमार जैन, धार
सौ. वंदना संदीप जैनी ह.कु. श्रेया जैनी, नागपुर
सौ. केशरबाई ध.प. स्व. गुलाबचन्द जैन, नागपुर
जयवंती बेन किशोरकुमार जैन
श्री मनोज शान्तिलाल जैन
श्रीमती शकुन्तला अनिलकुमार जैन, मुंगावली
इंजी.आरती पिता श्री अनिलकुमार जैन, मुंगावली
श्रीमती पानादेवी मोहनलाल सेठी, गोहाटी
श्रीमती माणिकबाई माणिकचन्द जैन, इन्दौर
श्रीमती भूरीबाई स्व. फूलचन्द जैन, जबलपुर
श्री किशोरकुमार राजमल जैन, सोनगढ़
श्री जयपाल जैन, दिल्ली
श्री चेतना महिला मण्डल, खैरागढ़
श्रीमती किरण – एस.के. जैन, खैरागढ़
स्व.गैंदामल ज्ञानचन्द सुमतप्रसाद अनिल जैन, खैरागढ़
स्व. मुकेश गिड़िया स्मृति ह. सरला जैन, खैरागढ़
सौ. सुषमा जिनेन्द्रकुमार, खैरागढ़
श्रीमती श्रुति-अभयकुमार शास्त्री, खैरागढ़
सौ. अचरजकुमारी श्री निहालचन्द जैन, जयपुर
सौ. शोभाबाई भवरीलाल चौधरी, यवतमाल
सौ. ज्योति सन्तोषकुमार जैन, डोभी
श्री कस्तूरी बाई बल्लभदास जैन, जबलपुर
स्व.यशवंत छाजेड़ ह.श्री पन्नालाल छाजेड़, खैरागढ़
श्री आयुष्य जैन संजय जैन, दिल्ली
श्री सम्यक अरुण जैन, दिल्ली
श्री सार्थक अरुण जैन, दिल्ली
श्री केशरीमल नीरज पाटनी, ग्वालियर
श्री परागभाई हरिवदन सत्यपंथी, अहमदाबाद
श्रीमती नम्रता-प्रशम मोदी, सोनगढ़
श्री हेमलाल मनोहरलाल सिंघई, बोनकट्टा
स्व. दुर्गा देवी स्मृति ह. दीपचन्द चौपड़ा, खैरागढ़
शाह श्री कैलाशचन्दजी मोतीलालजी, भिलाई
श्रीमती प्रेक्षादेवी प्रवीणकुमारजी शास्त्री, रायपुर
लक्ष्मीबेन वीरचन्द शाह ह. शारदाबेन, सोनगढ़
श्रीमती चेतनाबेन पारुलभाई भायाणी, मद्रास
श्रीमती स्वाति-आशीष जैन, नवसारी
श्रीमती वर्षाबेन-निरंजनभाई, सुरेन्द्रनगर
श्रीमती रूवी-राजकुमार जैन, दुर्ग
श्रीमती विजया विजयकुमार जैन, विलासपुर
स्व. धरमचंद संचेती ह. किशोरकुमार संचेती, कटंगी
श्रीमती नेहाबेन-जितेन्द्र भाई गोगरी, माटुंगा
श्रीमती लक्ष्मीबेन शशांकभाई शाह, माटुंगा
श्री जयकुमार जैन, शिवपुरी
श्रीमती सुशीला बेन जयन्ती लाल गाला, माटुंगा
लक्ष्मी बेन, ब्र. कुन्ती बेन, सोनगढ़
कु. आरोही, श्रीमती परींदा-राहुल पारिख, न्यूजीलेण्ड
कु. श्रेया श्रीमती मीता-दीपक पारिख, मुम्बई

साहित्य प्रकाशन फण्ड

श्रीमती शशीबाई श्रद्धाबाई, जयपुर	5001/-
श्रीमती शुचिता बेन शोमिल शाह, मुम्बई	5001/-
श्रीमती हंसाबेन धरणीधर दमाणी, अहमदावाद	2001/-
श्रीमती रत्नमाला जैन बाकलीवाल, इन्दौर	1500/-
श्री प्रमेय-अभय जैन, दिल्ली	1100/-
श्रीमती प्रतिभा अनिलभाई, मुम्बई	1100/-
श्रीमती सरलाबाई सुदेशबहिन, देहरादून	1100/-
स्व. प्रवीणचंद मेहता, ह. ज्योति बेन पार्ला	1001/-
श्रीमती नीताबेन राजेशभाई, इन्दौर	1001/-
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, ह. श्रुति-अभय, खैरागढ़	1001/-
स्व. ब्र. जमनाबेन स्मृति ह. उमेश, महेश छाजेड़, खैरागढ़	701/-
श्रीमती शिवानी सम्यक् जैन, खैरागढ़	701/-
श्रीमती सोनम-विनय चोपड़ा, खैरागढ़	601/-
श्रीमती बरखा मनोज टाटिया, ह. अभय, आर्यिका, खैरागढ़	501/-
स्व. श्रीमती कंचनबाई ह. श्री दुलीचंद-कमलेश जैन, खैरागढ़	501/-
श्रीमती कंचनबाई-पन्नालाल जैन गिड़िया, खैरागढ़	501/-
श्री सुनील जैन, इन्दौर	501/-
ब्र. ताराबेन मैनाबेन, सोनगढ़	501/-
ढ़ेलाबाई चैरीटेवल ट्रस्ट ह. श्री मोतीलाल जैन, खैरागढ़	501/-
झनकारीबाई खेमराज बाफना चैरीटेवल ट्रस्ट, खैरागढ़	501/-
श्रीमती हर्षा बेन हंसमुख भाई धोकलिया, बोरीबली	301/-
चि. मर्मज्ञ ह. श्रीमती पूजा साकेत शास्त्री, जयपुर	201/-

कल्याण का मार्ग आत्मा के आश्रय से शुरू होता है और सबका आत्मा उनके स्वयं के ही पास है, बस परिणति को परसन्मुखता छोड़कर स्वसन्मुख होना है। वास्तव में बाहर की देह बाधक नहीं बनती, बल्कि देहबुद्धि ही बाधक होती है।

– इसी कृति से साभार, पृष्ठ-11

अपनी बात

विषयारम्भ परिग्रह त्यागी, ज्ञान-ध्यान में परिणति पागी।
वे मुनिवर सबको सुखदाई, परिषहजय की करूँ बड़ाई।।[१]

मोक्षमार्ग से च्युत न हो और कर्मों की निर्जरा हो - इसके लिए आयी हुई विषम परिस्थितियों को समताभाव से सहन करना, वह परीषहजय हैऔर वे परिस्थितियाँ परीषह हैं। इन आनेवाली परिस्थितियों को जिनवाणी में 22 प्रकार में समाहित कर कथन किया गया है। इन्हें ही 22 परीषह कहते हैं।

परीषहों के वर्णन से पूर्व तत्त्वार्थ सूत्र में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया गया है, जिनका विचार-चिंतन परीषहों को जीतने हेतु संबल प्रदान करता है।

सभी परीषह कर्म के उदय में प्राप्त संयोगों के आश्रय से होते हैं। उनमें कुछ तो शरीराश्रित हैं जैसे - क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, रोग, मल, चर्या, शय्या, तृणस्पर्श, दंशमशक, वध - ये सब वेदनीय कर्म के उदय में होते हैं; तो कुछ कर्मों के कारण आवृत्त अल्पविकसित पर्यायों के रूप में हैं जैसे- प्रज्ञा, अज्ञान; ये ज्ञानावरण कर्म के उदय में होते हैं; कुछ में मोह का उदय कारण कहा है जैसे- अदर्शन, निषद्या, सत्कारपुरस्कार, नग्नता, आक्रोश, याचना, अरति, स्त्री तथा अन्तराय के उदय में अलाभ परीषह होता है।

फिर भी गजब की बात है कि यदि आत्मा अपने को भूलकर उनको महत्त्व दे तो सभी के सभी आत्मा को दुख देने में कारण (निमित्त) कहे जाते हैं अन्यथा वे सब मिट्टी के ढेले के समान आत्मा का कुछ भी बिगाड़ नहीं करते, बस ! इसी महामंत्र के आधार पर दिगम्बर भावलिंगी मुनिराज उन पर सहज ही विजय प्राप्त कर लेते हैं।

1. ब्र. रवीन्द्रजी 'आत्मन्' कृत बाईस परीषह पाठ से साभार

वस्तुस्थिति यह है कि मुनिराजों का जीवन ही ऐसा है कि उन्हें एक आत्मा के सिवाय और किसी भी वस्तु की जरूरत ही नहीं है। कहा भी है– '**आत्मायमेकोस्तु न**' वे अपने आत्मस्वरूप में ही इतने तृप्त रहते हैं कि उन्हें जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं दिखता, जिसके बिना उनका जीवन नहीं चलता हो। उनका सम्पूर्ण जीवन निजचैतन्यमय ही होता है, उन्हें आत्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए। हम तो उनके बारे में यह समझते हैं कि 'ये मुनि हैं' पर वे स्वयं अपने आपको मुनि कम आत्मा अधिक समझते हैं। इसलिए उन्हें भोजन, पानी, सर्दी, गर्मी, वस्त्र, आसान, शय्या, वाहन, औषधि, बध, बंधन, मान अपमान, यहाँ तक कि क्षायोपशमिक ज्ञानाज्ञान की भी परवाह नहीं होती। अत: अंतरंग में तो उनके परीषह होते ही नहीं हैं और कदाचित् बाहर में हों तो उनपर उनका ज्ञान-ध्यान नहीं है। इन 22 परीषहों का वर्णन भी मुख्यरूप से मुनिराजों के सन्दर्भ में ही आया है। सम्यग्दृष्टि एवं देशव्रती विपत्ति में धर्म से चलायमान न भी हों, तो भी उन्हें परीषहजयी नहीं कहा गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में मुनिराजों के जिन 22 परीषहों की चर्चा हम कर रहे हैं, उनमें कुछ वार्तायें पशुओं के माध्यम से करायी हैं, अतः यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रथम तो पशु ऐसी वार्ता करते नहीं हैं, दूसरे उन्हें इसप्रकार का ज्ञान भी नहीं है, अतः यह मात्र एक कोरी कल्पना ही है।

समाधान– यह कोरी कल्पना नहीं है, प्रथमानुयोग में ऐसे अनेकों कथानक पाये जाते हैं, जिनमें पशुओं को पूर्वभव के स्मरण आदि से उनके विचार मनुष्यों की तरह होते देखे गये हैं तथा उनका जीवन मनुष्यों की तरह सुधरता देखा गया है।

जैसे – जटायु का जीव पूर्व में राजा था। श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीव पूर्व में बंदर और उससे पूर्व वैद्य था। श्री महावीर भगवान और श्री पार्श्वनाथ भगवान के जीव भी क्रमशः शेर और हाथी की पर्याय में अपने कल्याण के मार्ग में लग गये थे।

अरे भाई ! इसमें असंभव व आश्चर्य की कोई बात भी नहीं है; **क्योंकि कल्याण का मार्ग आत्मा के आश्रय से शुरू होता है और सबका आत्मा उनके स्वयं के ही पास है, बस परिणति को परसन्मुखता छोड़कर स्वसन्मुख होना है। वास्तव में बाहर की देह बाधक नहीं बनती, बल्कि देहबुद्धि ही बाधक होती है।**

मैं स्वभावत: लेखक न होते हुए भी इसके लेखन में कैसे जुट गया, मुझे ही आश्चर्य होता है। इसमें मुख्यरूप से तो प्रकाशक परिवार ही कारण रहा। बात यह है कि अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन खैरागढ़ के अन्तर्गत् स्थापित गिड़िया ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य के क्रम में जब जैन धर्म की कहानियों का भाग क्र. 22 प्रकाशित होने का अवसर आया तब प्रकाशक संस्था को ऐसा भाव आया कि इसमें 22 परीषह से संबन्धित विषय छपना चाहिए। तब 22 परीषह संबन्धी विषय का जिनागम के आलोक में आलोढ़न किया गया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि लगभग सभी ग्रंथों में एक-सा विषय ही उपलब्ध है, जिसे संग्रह करके एक स्थान पर प्रकाशित करना भी उचित भासित नहीं हुआ। अत: यह विचार आया कि क्यों न उस विषय को कुछ संवादों में लिपिबद्ध करके कहानी के रूप में प्रस्तुत किया जाये। अत: इसी विचार के बल से कुछ संवादों के रूप में यह लिखने का उद्यम किया गया है, जो आपके समक्ष प्रस्तुत है।

इस सन्दर्भ में सुधी-विज्ञजनों से विनम्र निवेदन है कि वे इसमें हुई त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान अवश्य आकर्षित करें, ताकि उन्हें आगामी संस्करण में सुधारा जा सके और जिनागम की धारा सदा निर्दोष बनी रहे।

सभी परीषहों का वर्णन जिनवाणी में मुनिराजों की अपेक्षा किया गया है; अत: इन वार्ताओं में जो भी चर्चा हुई है, वह रत्नत्रय की अपेक्षा ही हुई है। अथवा यह कहा जाये कि सम्यक् श्रद्धा के साथ ही चारित्र दृढ़ होता है, अत: श्रद्धा-ज्ञान की मुख्यता से हुई है। दूसरी

बात बोल-चाल की भाषा में साधारण मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों को पात्र बनाकर चर्चा करने से उन्हीं के स्तर से विचार करना सहज हो सका है। महामुनिराजों के महान अलौकिक जीवन की अंतरंग परिणति को शब्द देना मेरे जैसे अल्पज्ञ के द्वारा असंभव है।

प्रथम तो वाणी/लेखनी ही वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं कह सकती, फिर हमारी क्या बिसात? जिन परीषहों को हमारे मुनिराज सहजता से सहन कर लेते हैं, उन्हें हम अपनी वाणी/लेखनी से आंशिक भी नहीं कह सकते हैं-ऐसी स्थिति होने पर जिनवाणी के अभ्यास से और वीतरागता के राग से जो कुछ भी लिखा गया, उसके लिए मैं पवित्र हृदय से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति विशेष रूप से उपकार मानता हुआ उसमें हुई भूलों के प्रति क्षमा चाहता हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक को मुद्रित करने से पूर्व आदरणीय ब्र. रवीन्द्रजी 'आत्मन्' अमायन को दिखाने के साथ-साथ ब्र. सुमतप्रकाशजी खनियाँधाना, पण्डित राजेन्द्रजी जबलपुर, पण्डित अश्विनभाई मुम्बई, पण्डित राकेशजी नागपुर एवं पण्डित शांतिकुमारजी पाटिल जयपुर को भी देखने हेतु प्रस्तुत किया था उन सभी ने अपनी-अपनी सुविधानुसार आंशिकरूप से अवलोकन किया तथा पण्डित संजीवजी गोधा जयपुर ने सम्पूर्ण पुस्तक का भलेप्रकार अवलोकन किया तथा जिस किसी ने भी मुझे जैसा मार्गदर्शन दिया, तदनुसार मैंने उसे अपनी योग्यतानुसार परिमार्जन भी किया। एतदर्थ मैं सभी का हृदय से आभारी हूँऔर अंत में यही भावना भाता हुआ विराम लेता हूँ कि -

ऐसे मुनिवर को शिर नावें, साक्षात् दर्शन कब पावें।
यही भाव मन माहीं आवे, धनि निर्ग्रन्थ दशा प्रगटावे॥
विषयों की अब नहीं कामना, शाश्वत पद की करूँ साधना।
निजानन्द में तृप्त रहूँ मैं, अक्षय प्रभुता प्रगट करूँ मैं॥[1]

1. ब्र. रवीन्द्रजी 'आत्मन्' कृत बाईस परीषह पाठ से साभार

❊ मंगलाचरण ❊

(तर्ज- अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा)

संवर हेतू जीवन जीते मुनिवरा,
नित ही करते कर्मों की वे निर्जरा।
उनको कर शतबार नमन वंदन अहा,
परिषहजय का वर्णन करते हैं यहाँ॥१॥
परिषह होते हैं बाईस प्रकार से,
जीतें मुनिजन एक आत्म आधार से।
परिषह विजयी मुनीराज होते सदा,
परिषह नहिं छूते हैं उनको सर्वदा॥२॥
जो रहते नित तृप्त सदा निजद्रव्य में,
जिनको सुख नहिं दिखता है परद्रव्य में।
अन्तर में तो सदा रहें परिषह रहित,
रहते वे तो सदा आत्महित में निहित॥३॥
बाह्य परीषह में नहिं होवें वे चलित,
दीक्षा पूर्व चित्त में उनके था खचित।
जब दीक्षा धारण की थी तब था पता,
क्षुधा तृषा गर्मी सर्दी होगी सदा॥४॥
दंशमशक आदिक परीषह तो होंय ही,
पर वे नहिं उनमें जुड़ते हैं रंच भी।
नग्न दशा स्वीकार करी स्पष्ट है,
फिर कोई भी कुछ भी कहे न कष्ट है॥५॥
निज में रति जब हुई तो पर से काम क्या?
पर तो पर है वहाँ अरति का नाम क्या?

नोट-'परिषह, मुनिराज' शब्द पद्यानुरोध से ह्रस्व-दीर्घ दोनों प्रयोग किये हैं।

स्त्री तो असमानजाति की है दशा,
अरु मैं तो हूँ शुद्ध ज्ञान आनंद सदा॥६॥
चर्या शय्या और निषद्या भी सहें,
शुद्ध चेतना साधें निज में ही रहें।
मैं आतम निर्बन्ध तथा निष्क्रोध हूँ,
नित्य निरामय तथा स्वयं ही बोध हूँ॥७॥
मैं तो निज को निज में ही निरखूँ सदा,
होय अलाभ न मांगूँ फिर भी मैं कदा।
तृणस्पर्श तो कहा प्रतीक के रूप में,
कंकर धूल शुष्क तिनके भी आ लगें॥८॥
तब अस्पर्श स्वभावी वे आतम भजें,
अरु अनात्म स्पर्शन् वे न अनुभवें।
मैं स्वभाव से निर्मल हूँ मल फिर कहाँ ?
पर्यय में रत्नत्रय है निर्मल महा॥९॥
जब मेरा अन्तर स्वरूप नहिं दीखता,
फिर कैसा सत्कार व किसपर रीझता।
दृष्टि में जब निज आतम आया खरा,
ज्ञान सिन्धु अवगाहन करते हैं त्वरा॥१०॥
कर अनुभव परमाण हुए कृत कृत्य जो,
वे ही मुनिजन पाते हैं निज तत्त्व को।
जिनका लक्ष्य ज्ञान सिन्धु पर है टिका,
निज आतम का ही आश्रय उनको सदा॥११॥
श्रेणी चढकर केवलज्ञान प्रगट करें,
वे मुनिवर क्यों मति-श्रुत की महिमा करें।
ऐसे मुनिवर बसैं सदा मम उर-धरा,
मैं भी पाऊँ उन जैसा जीवन खरा॥१२॥

22 परीषह : एक सामान्य परिचय

आचार्य उमास्वामी प्रणीत महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के नवमें अध्याय में सूत्र क्रमांक 8 से 17 तक परीषहों के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। इसकी संस्कृत हिन्दी अनेकों टीकाएँ उपलब्ध हैं। उनमें और अधिक विस्तृत विवेचन है। जिनका मूलतः स्वाध्याय करणीय है।

तत्त्वार्थसूत्र के मूल सूत्र -

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ।।8।।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोश-वधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।।9।।

सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।।10।।

एकादश जिने ।।11।।

बादरसाम्पराये सर्वे ।।12।।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ।।13।।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।।14।।

चारित्रमोहेनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ।।15।।

वेदनीये शेषाः ।।16।।

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशते ।।17।।

तत्त्वार्थसूत्र के मूल सूत्रों का अर्थ -

मार्ग से च्युत न होने के लिये और कर्मों का क्षय करने के लिए जो सहन करने योग्य हों, वे परीषह हैं।।8।।

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन नामवाले बाईस परीषह हैं।।9।।

सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थवीतराग में चौदह परीषह सम्भव है।।10।।

जिनभगवान में ग्यारह परीषह सम्भव हैं।।11।।

बादरसाम्पराय में सभी अर्थात् बाईस ही परीषह सम्भव हैं।।12।।

ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।।13।।

दर्शनमोह और अन्तराय के सद्भाव में क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं।।14।।

चारित्रमोह के सद्भाव में नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार परीषह होते हैं।।15।।

बाकी के सब परीषह वेदनीय के सद्भाव में होते हैं।।16।।

एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर उन्नीस तक परीषह विकल्प से सम्भव हैं।।17।।

इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम पण्डित फूलचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री कृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका का पृष्ठ 289 से 293 में समागत अंश प्रस्तुत है –

"संवर के उपायों में परीषहजय भी एक उपाय बतलाया है, इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि परीषहों का विस्तृत विवेचन किया जाय। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत सूत्रों द्वारा सूत्रकार ने परीषहों का **लक्षण, उनकी संख्या, उनके स्वामी का निर्देश, उनके कारणों का निर्देश और एक साथ एक जीव में सम्भव परीषहों की संख्या** – इन पाँच बातों का निर्देश किया है। जिनका यहाँ अनुक्रम से विचार करते हैं–

1. लक्षण विचार – जीवन में अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणों से विविध प्रकार की आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं और समता या व्यग्रता से उन्हें सहन भी करना पड़ता है, किन्तु जो आपत्तियाँ अच्छे उद्देश्य से सही जाती हैं, उनका फल अच्छा ही होता है। सबसे अच्छा उद्देश्य

मोक्षमार्ग पर स्थित रहना और कर्मों की निर्जरा करना इन दो बातों के सिवा और क्या हो सकता है, क्योंकि इन दोनों का फल मोक्ष है। इसीलिये यहाँ इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये जो स्वकृत या परकृत आपत्तियाँ स्वेच्छा (सहजता) से सहन करने योग्य हैं, उन्हें परीषह कहते हैं – यह बतलाया है।

2. संख्या विचार – प्रकृत में ऐसे परीषह बाईस बतलाये हैं। यद्यपि यह संख्या न्यूनाधिक भी की जा सकती है; तथापि मुनि की क्रिया को ध्यान में रखकर मुख्यतः जीवन में किस-किस प्रकार की कठिनाई उत्पन्न होती है, जिसका समता पूर्वक निर्विकल्पभाव से सहन कर लेना आवश्यक है, यह जानकर परीषह बाईस ही नियत किये गये हैं। इन बाईस परीषहों पर किस प्रकार विजय पाना चाहिये। इसका विवेचन प्रत्येक परीषह पर हुई वार्ता के पूर्व दिया जा रहा है।

3. स्वामी – जिसमें साम्पराय – लोभकषाय अतिसूक्ष्म पाया जाता है ऐसे सूक्ष्मसाम्परायिक गुणस्थान में तथा छद्मस्थवीतराग अर्थात् उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान में चौदह ही परीषह सम्भव हैं। वे ये हैं- क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान। मोहनीय के निमित्त से होनेवाले बाकी के आठ परीषह इन गुणस्थानों में नहीं होते। ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में मोहनीय का उदय नहीं होता, इसलिये मोहनीय निमित्तक आठ परीषहों का वहाँ न होना सम्भव भी है तथापि दसवें गुणस्थान में इनका अभाव बतलाने का कारण यह है कि इस गुणस्थान में जो केवल सूक्ष्मलोभ का उदय होता है वह अतिसूक्ष्म होता है, इसलिये इस गुणस्थानवर्ती जीवों को भी वीतरागछद्मस्थ के समान मानकर यहाँ मोह निमित्तक परीषहों का सद्भाव नहीं बतलाया है।

शङ्का– ये दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान तो ध्यान के हैं, इनमें क्षुधादिजन्य वेदना ही सम्भव नहीं है, दूसरे यहाँ मोहनीय के उदय

की सम्भावना भी नहीं है या दशवें गुणस्थान में है भी तो अतिमन्द है, इसलिये इनमें क्षुधादि परीषह नहीं होना चाहिए।

समाधान – यह सही है कि इन गुणस्थानों में क्षुधादि परीषह नहीं पाये जाते, तथापि जैसे शक्तिमात्र की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि के देव में सातवीं पृथिवी तक जाने की योग्यता मानी जाती है, वैसे ही यहाँ भी परिषहों के कारण विद्यमान होने से उनका सत्त्व बतलाया है।

जिन अर्थात् सयोगकेवली और अयोगकेवली के केवल ग्यारह परीषह ही सम्भव हैं। वे ये हैं–क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल केवलीजिन के चिन्ता नहीं है तो भी ध्यान का फल कर्मों के क्षय की अपेक्षा जैसे वहाँ ध्यान का उपचार किया जाता है वैसे ही वेदनीय कर्म के उदयमात्र की अपेक्षा यहाँ परीषहों का उपचार से निर्देश किया गया है। वैसे तो उन्हें सातिशय शरीर और अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाने से उनके क्षुधा–तृषा आदि परीषहों की सम्भावना ही नहीं है। हम संसारीजनों के शरीर के समान केवलीजिन के शरीर में त्रस और स्थावर जीव नहीं पाये जाते। केवलज्ञान के प्राप्त होते ही उनका शरीर परम औदारिक हो जाता है, उसमें मल–मूत्र आदि कोई दोष नहीं रहते। ऐसी हालत में उनके क्षुधा, पिपासा आदि की बाधा मानना नितान्त असम्भव है। तत्त्वतः परीषह व्यवहार में छठे गुणस्थान तक ही सम्भव है।

किन्तु बादरसाम्पराय जीव के सब परीषहों का पाया जाना सम्भव है, क्योंकि यहाँ सभी परीषहों के कारणभूत कर्मों का सद्भाव पाया जाता है। बादरसाम्पराय से यहाँ प्रमत्तसंयत से लेकर नौवें गुणस्थान तक के गुणस्थान लेने चाहिये।

शङ्का – अदर्शन परीषह का कारण दर्शनमोहनीय का उदय बतलाया है। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक्त्व, सो इनमें से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय सातवें

तक पाया जाता है, इसलिए अदर्शन परीषह की संभावना सातवें तक मान भी ली जावे तब भी आठवें व नौवें गुणस्थान में इसकी किसी भी हालत में संभावना नहीं है। फिर यहाँ नोवें गुणस्थान तक 22 परीषह क्यों कहे ?

समाधान – सूत्र में बादरसाम्पराय पद है और बादरसाम्पराय का अर्थ है स्थूलकषाय। यह नौवें गुणस्थान तक सम्भव है इस दृष्टि से बादरसाम्पराय का अर्थ नौवें गुणस्थान तक किया है, वैसे तो अदर्शन परीषह का पाया जाना आठवें व नौवें गुणस्थान में किसी भी हालत में सम्भव नहीं है, क्योंकि इन गुणस्थानों में दर्शनमोहनीय की किसी भी प्रकृति का उदय नहीं पाया जाता।

4. कारणों का निर्देश – अब कौन-कौन परीषह किन-किन कर्मों के निमित्त से होते हैं यह बतलाते हैं। ज्ञानावरण कर्म प्रज्ञा और अज्ञान इन दो परीषहों का कारण है। यहाँ प्रज्ञा से क्षायोपशमिक विशेष ज्ञान लिया गया है। ऐसे ज्ञान से क्वचित् अहङ्कार पैदा होता हुआ देखा जाता है; परन्तु यह अहङ्कार अन्य ज्ञानावरण के सद्भाव में ही सम्भव है, इसलिये प्रज्ञा परिषह का कारण ज्ञानावरण कर्म बतलाया है। दर्शनमोह अदर्शन परीषह का कारण है। अन्तराय कर्म अलाभ परीषह का कारण है। चारित्रमोहनीय कर्म नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषहों के कारण हैं। तथा वेदनीय कर्म उक्त परीषहों के सिवा शेष ग्यारह परीषहों का कारण है।

5. एक साथ एक जीव में सम्भव परीषहों की संख्या – बाईस परीषहों में ऐसे कितने ही परीषह हैं जो एक जीव में एक साथ सम्भव नहीं हैं। जैसे शीत और उष्ण ये दोनों परीषह एक साथ सम्भव नहीं है। जब शीत परीषह होगा तब उष्ण परीषह सम्भव नहीं। इस प्रकार एक तो यह कम हो जाता है। इसी प्रकार चर्या, शय्या और निषद्या

ये तीनों परीषह एकसाथ सम्भव नहीं, इनमें से एक काल में एक ही होगा। इस प्रकार दो ये कम हो जाते हैं। कुल मिलाकर तीन कम हुए। इसी से सूत्रकार ने एक साथ एक जीव में उन्नीस परीषह बतलाये हैं।

इन बाईस परीषहों पर विजय पाने से कर्मों का संवर होता है।"

इस महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र की अनेक टीकाओं में एक महत्त्वपूर्ण टीका तत्त्वार्थमणिप्रदीप नाम की भी है, जिसका प्रणयन डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल ने किया है। जिसमें वर्तमान में चल रही अनेक भ्रांतियों का युक्तिपूर्ण रीति से आगम के आलोक में निराकरण किया गया है। जो मूलत: पठनीय है, परीषहों के सन्दर्भ में द्रष्टव्य अंश प्रस्तुत है –

'यहाँ एक प्रश्न संभव है कि ज्ञानावरण के सद्भाव में अज्ञान परीषह होने की बात तो ठीक; पर ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा परीषह कैसे हो सकता है; क्योंकि प्रज्ञा तो ज्ञानावरण के क्षयोपशमरूप भाव का नाम है, क्षयोपशमरूप भाव के सद्भाव का नाम है।

इस प्रश्न का उत्तर सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थ में आचार्य पूज्यपाद ने इसप्रकार दिया है – क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के होने पर मद को उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरण के क्षय होने पर मद नहीं होता; इसलिए ज्ञानावरण के होने पर प्रज्ञा परीषह होता है – यह कथन बन जाता है।

इसीप्रकार का भाव तत्त्वार्थराजवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव व्यक्त करते हैं। **उनका स्पष्ट कहना है – 'मैं बड़ा विद्वान हूँ – यह प्रज्ञा मद मोह का कार्य न होकर ज्ञानावरण का कार्य है।'**

दर्शनमोह के उदय से होने वाले अदर्शन परीषह के संदर्भ में पण्डित फूलचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा निम्नांकित विशेषार्थ विशेष देखने योग्य है –

'दर्शनमोह से यहाँ सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति ली गयी है। इसका उदय रहते हुए चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं।

सम्यक्त्व के रहते हुए भी आप्त, आगम और पदार्थों के विषय में नाना विकल्प होना चल दोष है। जिसप्रकार जल के स्वस्थ होते हुए भी उसमें वायु के निमित्त से तरंगमाला उठा करती है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष यद्यपि अपने स्वरूप में स्थित रहता है, तथापि सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों के विषय में उसकी बुद्धि चलायमान होती रहती है - यही चल दोष है।

मल का अर्थ मैल है। शंकादि दोषों के निमित्त से सम्यग्दर्शन का मलिन होना मल दोष है। यह भी सम्यक्त्व मोहनीय के उदय में होता है।

तथा अगाढ़ का अर्थ स्थिर न रहना है। सम्यग्दृष्टि जीव लौकिक प्रयोजनवश कदाचित् तत्त्व से चलायमान होने लगता है। उदाहरणार्थ - 'अन्य, अन्य का कर्ता नहीं होता' - यह सिद्धान्त है और सम्यग्दृष्टि इसे भली प्रकार जानता है, पर रागवश वह इस सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रह पाता। कदाचित् वह पारमार्थिक कार्य को भी लौकिक प्रयोजन का प्रयोजक मान बैठता है।

इसप्रकार सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से तीन दोष होते हैं। ये तीनों एक हैं फिर भी भिन्न-भिन्न अभिप्राय की दृष्टि से यहाँ इन्हें पृथक्-पृथक्रूप से परिगणित किया है।

प्रकृत में इसी दोष को ध्यान में रखकर अदर्शन परीषह का निर्देश किया है। यह दर्शनमोहनीय के उदय से होता है, इसलिए इसे दर्शन मोहनीय का कार्य कहा है।'

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न संभव है कि जब असातावेदनीय कर्म के उदय से होनेवाला क्षुधा परीषह केवली भगवान के होता है तो फिर क्षुधा के निवारणार्थ उनके कवलाहार भी होना चाहिए।

उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए पण्डित फूलचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री विशेषार्थ में लिखते हैं –

जिनभगवान के असाता वेदनीय का उदय होता है और वह क्षुधादि वेदना का कारण है; इसलिए यहाँ जिनभगवान के कारण की दृष्टि से क्षुधादि ग्यारह परीषह कहे जाते हैं। पर क्या सचमुच में जिनभगवान के क्षुधादि ग्यारह परीषह होते हैं यह एक प्रश्न है, जिसका समाधान टीका में दो प्रकार से किया है।

पहले तो जिनभगवान के क्षुधादि परीषहों के होने के कारण सद्भाव की अपेक्षा उनके उपचार से अस्तित्व का निर्देश किया है, पर कार्यरूप में क्षुधादि ग्यारह परीषह जिनभगवान के नहीं होते, इसलिए इस दृष्टि से 'न सन्ति' इस वाक्याशेष की योजना कर वहाँ उनका निषेध किया है।

अब यहाँ यह देखना है कि जिनभगवान के क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते, यह कैसे समझा जाय। वे इस काल में पाये तो जाते नहीं, इसलिए प्रत्यक्ष देखकर तो यह जाना नहीं जा सकता। एक मात्र आगम को पुष्ट करनेवाली युक्तियाँ ही शेष रहती हैं, जिनके अवलम्बन से यह बात समझी जा सकती है, अतः यहाँ उन्हीं का निर्देश करते हैं –

1. केवलीजिन के शरीर में निगोद और त्रस जीव नहीं रहते। उनका क्षीणमोह गुणस्थान में अभाव होकर वे परम औदारिक शरीर के धारी होते हैं। अतः भूख, प्यास और रोगादिक का कारण नहीं रहने से उन्हें भूख, प्यास और रोगादिक की बाधा नहीं होती। **देवों के शरीर में इन जीवों के न होने से जो विशेषता होती है, उससे अनन्तगुणी विशेषता इनके शरीर में उत्पन्न हो जाती है।**

2. श्रेणी आरोहण करने पर प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर अनन्तगुणा बढ़ता जाता है और अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग प्रतिसमय

अनन्तगुणा हीन होता जाता है। **इसलिए तेरहवें गुणस्थान में होनेवाला असाता प्रकृति का उदय इतना बलवान नहीं होता, जिससे उसे क्षुधादि कार्यों का सूचक माना जा सके।**

3. असाता की उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही होती है, आगे नहीं होती, इसलिए उदीरणा के अभाव में वेदनीय कर्म क्षुधादिरूप कार्य का वेदन कराने में असमर्थ है। **जब केवलीजिन के शरीर को पानी और भोजन की ही आवश्यकता नहीं रहती, तब इनके न मिलने से जो क्षुधा और तृषा होती है, वह उनके हो ही कैसे सकती है?**

वेदनीय कर्म का कार्य कुछ शरीर में पानी तत्त्व और भोजन तत्त्व का अभाव करना नहीं है। वास्तव में इनका अभाव अन्य कारणों से होता है। हाँ, इनका अभाव होने पर इनकी पूर्ति के लिए जो वेदना होती है, वह वेदनीय कर्म का काम है। सो **जबकि केवलीजिन के शरीर को उनकी आवश्यकता ही नहीं रहती, तब वेदनीय के निमित्त से तज्जनित वेदना कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती।**

4. केवली जिन के साता का आस्रव सदाकाल होने से उसकी निर्जरा भी सदाकाल होती रहती है, इसलिए जिस काल में असाता का उदय होता है, उस काल में केवल उसका ही उदय नहीं होता, किन्तु उससे अनन्तगुणी शक्तिवाले साता के साथ वह उदय में आता है। माना कि उस समय उसका स्वमुखेन उदय है, पर **वह प्रतिसमय बँधनेवाले साता कर्मपरमाणुओं की निर्जरा के साथ ही होता है,** इसलिए असाता का उदय वहाँ क्षुधादि रूप वेदना का कारण नहीं हो सकता।

5. सुख-दुःख का वेदन वेदनीय कर्म का कार्य होने पर भी वह मोहनीय की सहायता से ही होता है। यतः केवलीजिन के मोहनीय का अभाव होता है, अतः वहाँ क्षुधादिरूप वेदनाओं का सद्भाव मानना, युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

(शुद्धोपयोग में रहते-रहते क्या आहार हो सकता है, नहीं। ऐसे क्षुधादि परीषहों पर औदारिक शरीरधारी मुनिराज ही विजय प्राप्त कर लेते हैं, तब फिर क्या परमोदारिक शरीरधारी अरहंतजिन इन क्षुधादि परीषहों को नहीं जीतते होंगे ? अवश्य जीत लेते हैं, सहज ही जीत लेते हैं।)

इन प्रमाणों से निश्चित होता है कि केवलीजिन के क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते।

प्रश्न – यदि केवली भगवान के क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते तो सूत्र में ऐसा क्यों कहा है कि जिनेन्द्र भगवान के ग्यारह परीषह होते हैं?

उत्तर – उक्त कथन उपचरित कथन है; जो असाता वेदनीय के उदय के कारण व्यवहारनय से किया गया है।

असाता वेदनीय के तीव्रोदय के बिना न तो ग्यारह परीषह होते हैं और न कवलाहार ही होता है।

तेरहवें गुणस्थान में असातावेदनीय का अत्यन्त मन्द उदय है; इसलिए तेरहवें गुणस्थान में क्षुधादि परीषह नहीं होते।

सत्तरहवे सूत्र में कहा है कि एक आत्मा के एक साथ एक से लेकर उन्नीस तक परीषह हो सकते हैं, क्योंकि शीत उष्ण में से कोई एक तथा चर्या शय्या निषद्या में से कोई एक ही होगा – इसप्रकार तीन परीषह कम हो जाते हैं।

शंका – प्रज्ञा और अज्ञान में से भी तो कोई एक ही होगा, क्योंकि जिसके प्रज्ञा होगी उसके अज्ञान का होना संभव नहीं है।

समाधान – श्रुतज्ञान की अपेक्षा प्रज्ञा का प्रकर्ष होने पर भी अवधिज्ञान आदि न होनेरूप अज्ञान हो सकता है। अत: दोनों के एक साथ होने में काई विरोध नहीं है।''

– तत्त्वार्थमणिप्रदीप, पृष्ठ 361 से 365

बाईस परीषह
(एक संवाद के रूप में)

अनेक शास्त्रों में परीषहों का स्वरूप वर्णित है और लगभग सर्वत्र एक जैसी ही विषयवस्तु पाई जाती है, अत: प्रत्येक परीषह की वार्ता से पूर्व उस परीषह सम्बंधी संक्षिप्त सार को अपने में समेटे बा.ब्र. रवीन्द्रजी 'आत्मन्' द्वारा रचित चौपाई मंगलाचरण के रूप में दी गई है। साथ ही तत्त्वार्थसूत्र की टीका एवं पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में समागत मूल विषय को दिया गया है।

१-२. क्षुधा-तृषा परीषहजय
मंगलाचरण

भूख लगे आहार न पाय, अनाहारी चिद्रूप लखाय।
ज्ञानामृत भोजी मुनिराय, सहें परीषह शिवसुखदाय॥
तृषा सतावे कोपे पित्त, नहीं दीनता लावें चित्त।
भेदज्ञान करते मुनिराय, समता रस से तृप्त रहाय॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं –

क्षुधा-तृषा परीषहजय – भूख और प्यास की उत्कट बाधा उपस्थित होने पर भी चित्त को उस ओर न ले जाना और मन में उनका विकल्प ही नहीं होने देना क्रम से क्षुधा और पिपासा परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

क्षुधा परीषहजय – भूख के वशीभूत होकर सब जीव बहुत दुःख पाते हैं; परन्तु मुनिराज को जब क्षुधा वेदना होती है, तब ऐसा विचार करते

हैं कि हे जीव ! तूने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए अनेक प्रकार की अनन्त पुद्गलराशि का भक्षण किया है, तब भी तेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई। अरे ! नरकगति में भी अत्यन्त क्षुधा सहन की। अभी तू इस समय मोक्ष की प्राप्ति के लिए तैयार हो गया है। तेरा यह शरीर तो यहीं पड़ा रह जायेगा। अतः शान्त, ज्ञानानन्द स्वरूप में लीनता करके भूख का नाश कर; जिससे शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाये। इसप्रकार के भावों द्वारा साधुगण क्षुधा परीषह को सहन करते हैं।

तृषा परीषहजय – सभी जीव प्यास से बहुत दुःखी होते हैं। मुनिराज ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर पर रहते हैं। वहाँ अनेक उपवास धारण करने के कारण उन्हें तृषा की बाधा उत्पन्न होती है। फिर भी वह धीर-वीर साधु इसप्रकार की भावना करके मन में समाधान लाते हैं कि हे जीव ! तूने इस संसार में भटकते हुए सारे जगत का जल पी लिया तो भी तेरी प्यास आजतक शान्त नहीं हुई।

अरे ! नरकगति में ऐसी तृषा उत्पन्न हुई जो समुद्रों का जल पीने पर भी न मिटे; परन्तु वहाँ एक बूँद मात्र भी जल प्राप्त नहीं हुआ तथा तिर्यञ्चगति में अति तृषा सहन की और मनुष्यगति में तृषा-वेदना सहन करनी पड़ी। हे जीव ! तूने जगत-वन्द्य मुनिपद धारण किया है, इसलिए इस तृषा परीषह को सहन करते हुए आत्मध्यान में लग; जिससे यह तृषा सदा के लिए मिट जाये। इसप्रकार तृषा परीषह मुनिराज सहन करते हैं और संयम से विचलित नहीं होते – यही तृषा परीषहजय है।

जो मुनिराज परीषह सहन नहीं कर सकते, उनके चित्त की निश्चलता नहीं हो सकती। चित्त की निश्चलता के बिना ध्यान में आरूढ़ता नहीं हो सकती तथा ध्यानारूढ़ता के बिना कर्मकाष्ठ भस्म नहीं हो सकते। कर्मों का नाश हुए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। इसलिए मोक्षाभिलाषी मुनि को परीषह अवश्य सहन करना चाहिए। – पुरुषार्थसिद्धि उपाय, पृष्ठ 251

क्षुधा-तृषा परीषहजय वार्ता

गर्मी के दिन थे, एक लोमड़ी बहुत समय से भूखी-प्यासी भोजन-पानी की तलाश में इधर-उधर भटकते हुए बहुत थक चुकी थी। अब वह अपनी थकान दूर करने के लिए एक छायादार वृक्ष के नीचे जा ही रही थी कि एकाएक उसकी नजर अनेक दिनों के उपवासोपरान्त आहार की विधि न मिलने पर भी अपने में तृप्त एक पाषाण शिला पर ध्यानस्थ बैठे मुनिराज पर पड़ी।

वह उनकी शान्त व तृप्त मुद्रा को देखकर, उन्हें नमस्कार कर उन्हीं के पास बैठ गई, उनके पास उसे बड़ी ही शांति का अनुभव हो रहा था, वह उनके दर्शन कर अपनी क्षुधा-तृषा की वेदना भूल गई थी। वह उनका पेट देखकर मन ही मन सोचने लगी, लगता है इन्हें भी कई दिनों से आहार-पानी नहीं मिला है तभी तो इनके भूखे पेट में तीन बल पड़ रहे हैं; परन्तु इनके चेहरे पर मेरी तरह दु:ख या कष्ट दिखाई नहीं देता, बल्कि इन्हें देखकर तो मैं भी अपने दु:ख या कष्ट भूल गई हूँ।

जरूर, इसमें कोई न कोई राज अवश्य होगा....पर क्या राज होगा – यह समझ में नहीं आ रहा है।

बहुत देर तक तो वह उनके पास बैठी रही, पर जब उसे इस बात (संवरतत्त्व) का निर्णय नहीं हुआ, तब वह अधीर होकर इसका निर्णय करने के लिए अपने मित्रों के पास चली गई कि शायद वहाँ उसको इसका उचित निर्णय मिल जाये।

सो योग्य ही है, पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ ३१२ पर कहा है – ''जो जीव, तत्त्वनिर्णय करने में उपयोग लगाने का अभ्यास रखते हैं, उनके विशुद्धि बढ़ती है, उससे कर्मों

की शक्ति हीन होती है। पश्चात् कुछ काल में दर्शनमोह का उपशम होता है, तब तत्त्वों की यथावत् प्रतीति आती है। सो इसका तो कर्त्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है।''

देखें, उस लोमड़ी के प्रश्न का उत्तर उसे अपने साथियों के पास मिलता है या नहीं।

लोमड़ी – बंदर भैया ! आज मैंने एक ऐसे महापुरुष को देखा, जिनके पास न तो कुछ है और शायद ना ही वे कुछ खाते-पीते हैं; फिर भी पता नहीं उनको देखकर ऐसा लगता है कि वे बहुत सुखी हैं। क्या तुम्हें इसका कारण पता है?

बीच में ही कौआ बोला – अरे, ऐसा होता है क्या? जरूर मुझे तो इसमें कुछ गड़बड़झाला लगता है।

तोता – अरे, हमें सत्य जाने बिना किसी के बारे में ऐसा नहीं सोचना चाहिए, फिर ये तो महापुरुष हैं।

कोयल – चलो अपन उनसे ही जाकर क्यों न पूछ लें?

कोयल की बात सबको समझ में आ गई और सब एक मत होकर मुनिराज के श्री चरणों में पहुँचने पर, वे देखते हैं कि वहाँ पहले से ही कुछ नर-नारी बैठे हैं और वे भी उनसे कुछ ऐसा ही प्रश्न कर रहे हैं। अतः वे सभी शांति से बैठकर उनके प्रश्नोत्तर सुनने लगे।

श्रावक – प्रभो ! आपको अनेक दिनों के उपवास करने के बाद भी जब आहार नहीं मिलता, तब भी आप अपने को इतना तृप्त कैसे अनुभव करते हैं? हमें तो एक समय भी भोजन न मिले तो हम अपने आपको बहुत दु:खी व कमजोर अनुभव करते हैं। कृपया, इसका समाधान कर हमें भी इन क्षुधा-तृषा के दु:ख से मुक्त होने का मार्ग बताइये।

मुनिराज ने अपनी आत्मस्पर्शी मधुर वाणी में कहा – हे भव्यात्मा ! सुनो, **जो अपने को शरीर रूप अनुभव करते हैं वे ही क्षुधा-तृषा आदि से दुःखी व परेशान होते हैं; क्योंकि यह क्षुधा देह का धर्म है, आत्मा का नहीं।**

श्रावक – पर प्रभो ! देह तो आपके भी है।

मुनिराज – हाँ ! हमारे देह तो है, पर देहदृष्टि नहीं है, देह में मग्नता नहीं होती। अत: हम देहकृत परीषह को सहज ही जीत लेते हैं।

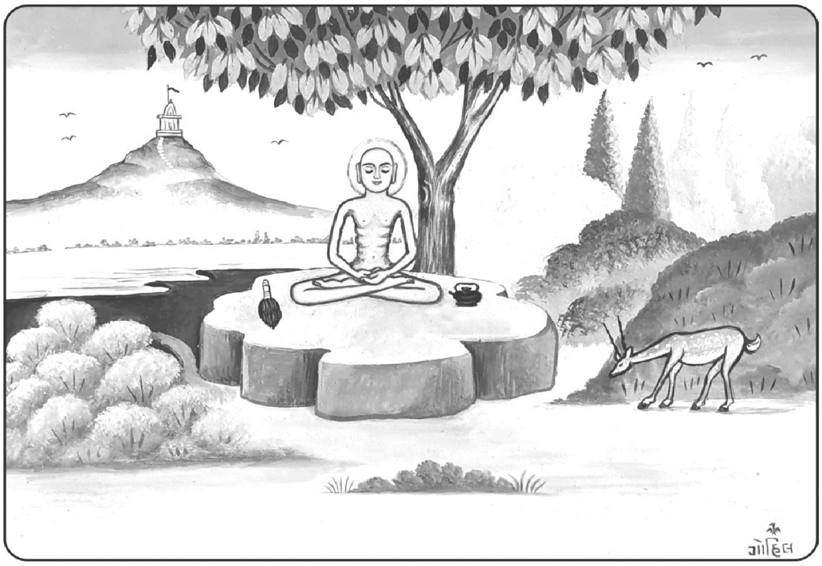

श्रावक – जब अनशन-ऊनोदर आदि तपों को तपते हुए, जिन साधुओं के कई दिन या पक्ष, माह बीत जाते हैं और बाद में उनके आहार की योग्य विधि नहीं बनती, उनका सारा शरीर सूख करके क्षीण हो जाता है, उस समय तो उनको भूख की वेदना बहुत बढ़ जाती होगी?

मुनिराज – यह सत्य है कि शरीर की जरूरत भोजन है;

अत: शरीर अवश्य कमजोर हो जाता है, पर आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है और मुनिराजों का जोर भेदज्ञान के बल से शरीर से भिन्न भगवान आत्मा पर अधिक होता है, अत: वे रंचमात्र भी खिन्न नहीं होते। उनके देह और आत्मा की भिन्नता का श्रद्धान तो सदा ही वर्तता है और बुद्धिपूर्वक विचार भी ऐसे ही होते हैं –

"हे आत्मन्! इस देहदृष्टि के कारण तूने अनादिकाल से अनंत बार देह के पोषण हेतु इतना भोजन किया है कि यदि उसे एकत्रित किया जाये तो सुमेरु पर्वत तुल्य अनंत पर्वत खड़े हो जायेंगे, पर तेरी क्षुधा तब भी शांत नहीं हुई। नरकगति में बिना भोजन के ही जिया है। कहा भी है - **भोजन बिन नरकों में जीवन भरपेट मनुज क्यों मरता है ?** हे अनंतगुण सम्पन्न आत्मा ! अब तो तुझे मोक्षप्राप्ति की कारणभूत क्षपकश्रेणी की तैयारी करना चाहिए।"–इसप्रकार आत्मरसिक मुनिराज क्षुधा परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

प्रश्न – प्रभो ! कोई उदाहरण से समझाइये न। ऐसा कैसे हो सकता हैं कि भूखा व्यक्ति भी आनंद में हो ?

उत्तर – अरे ! ऐसे उदाहरण तो हमारे जीवन में, घर में, दुकान में रोज देखने में आते हैं। जैसे – घर में बेटे की शादी हो, तो माँ दिन भर भूखी रहकर आनंद में रहती है; क्योंकि उसे भूख के कष्ट से अधिक बहू के आने का आनंद है। इसीप्रकार सीजन के समय व्यापारी की दुकान में जब ग्राहकी निरन्तर होती रहती है, तब वह व्यापारी भी भूखा रहकर आनंद का वेदन ही करता है; क्योंकि उसे भी उस समय भूख के कष्ट से अधिक पैसे आने का आनंद आता है। **परन्तु सत्य तो यह है कि यह आनंद तो क्षणिक है, पराश्रित है, सिर का बोझा कंधे पर रखने जैसा है।**

इसीप्रकार महामुनिराज भी आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद में इतने मग्न व तृप्त रहते हैं कि उन्हें भूख-प्यास का कष्ट सचमुच कष्ट सा ही नहीं लगता और उनका यह आत्मिक आनंद शाश्वत व स्वाश्रित होता है, क्षणिक व पराश्रित नहीं।

क्षुधा परीषहजय के लिए युग के आरंभ में धर्मतीर्थ प्रवर्तक श्री तीर्थंकर आदिनाथ मुनिराज ऋषभदेव की कथा प्रसिद्ध है। उन्हें छह माह का उपवास करने के बाद पारणा को जाते हुए छह माह कुछ दिन बीत गये, तब भी उनका अभिग्रह पूरा नहीं होने से उन्हें आहार नहीं मिला; परन्तु वे किंचित् भी विचलित नहीं हुए और ना ही उन्हें अपनी भूमिका के योग्य आनंद में कुछ कमी आई। यह क्षुधा परीषहजय का उत्कृष्ट उदाहरण है।

श्रावक – वे अभिग्रह (अटपटी प्रतिज्ञा) क्यों लेते हैं ?

मुनिराज – उनका अभिग्रह लेना भी एकप्रकार से परीषहजय का ही चिन्ह है, परीषहों को चुनौती है।

श्रावक – हे प्रभो ! मुनिराज का भोजन पराधीन होता है, भोजन के संबंध में वे कुछ भी नहीं कहते हैं, प्रकृति के विरुद्ध पारणा करने से प्यास भी तीव्र लगती है, गर्मी के दिनों में पित्त बहुत कुपित हो जाता है जिससे आँखें फिरने लग जाती हैं। क्या ऐसे में भी मुनिराजों को पानी लेने की छूट नहीं मिल सकती ?

मुनिराज – हे आत्मन् ! शायद तुम फिर भूल गये कि भोजन-पानी की जरूरत आत्मा को नहीं पड़ती, यह तो देह की जरूरत है। जब जीव अपने को सदा काल देह से भिन्न ही अनुभव करता है, तब फिर उसे पानी नहीं मिलने पर भी कष्ट कैसे हो सकता

है। कदाचित् चारित्रमोह-जनित कमजोरी के कारण यदि विकल्प आता भी है तो वे स्वयं ही विचार कर निजानंद रस से सहज ही तृप्ति का अनुभव करते हैं, पर पानी नहीं चाहते।

श्रावक – प्रभो ! वे स्वयं क्या विचार करते हैं? संक्षेप में बताइये न।

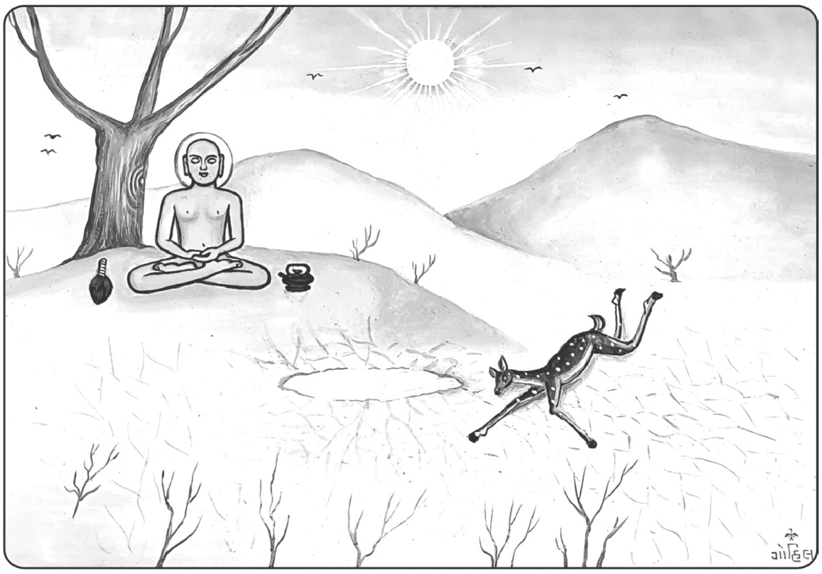

मुनिराज – अरे, वे धीर-वीर साधु विचारते हैं कि ''हे आत्मन्! तूने इस देहबुद्धि से सारे जगत का जल पी लिया तो भी तेरी प्यास आजतक शांत नहीं हुई। तू याद कर सेठ नागदत्त ने सामायिक के काल में पानी को मात्र याद किया था, पानी पिया नहीं था, तब भी उसके फल में वे मेंढ़क हो गये और तू पानी की चाह करता है। क्या तुझे तिर्यंच गति के दु:ख दिखाई नहीं देते या फिर उन दु:खों से भी प्यास का दु:ख भारी लगता है?

जरा सोच ! एक तरफ चार गति के दु:ख और दूसरी ओर

अनंत सुखमयी सिद्धत्व। क्या नरक के दु:ख भूल गया, क्या वहाँ सागरों पर्यंत बिना पानी के नहीं जिया।

जरा विचार कर कि वहाँ कैसे जिया होगा? अरे वहाँ भी तू अपनी जीवत्व शक्ति से ही जिया है और यहाँ भी अपनी जीवत्व शक्ति से ही जी रहा है, पानी से नहीं। अत: अब ऐसा उपाय कर कि सदा के लिए इन क्षुधा-तृषा आदि रोगों का अभाव हो जाये।''

अत: वे विचारते हैं कि हे आत्मन्! तू तो सदाकाल ज्ञायक ही है, तेरे ज्ञायकस्वभाव में दु:ख का तो लेश भी नहीं है। और ये जितने भी बाह्य पदार्थों के बारे में विकल्प होते हैं, वे सर्व ही झूठे और दु:खदायी हैं। कहा भी है –

[१]नहीं सूर्य में अंधकार त्यों दुःख नहिं ज्ञायक में।
दुःख का ज्ञाता कहो भले, पर ज्ञायक नहिं दुःख में॥
झूठे सर्व विकल्प, शरण है एक ही शुद्धातम।
निर्विकल्प आनन्दमयी, प्रभु शाश्वत परमातम॥

मुनिराज ऐसे आत्मा के बल से इन परीषहों के आने पर भी स्वरूपलीनता से, साक्षी रहते हुए सहज ही विजय प्राप्त कर संसार के दु:खों का अभाव कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

आत्मकल्याण की ऐसी मधुर चर्चा सुनने के बाद सभी भावविभोर हो मुनिराज की भक्ति करने लगे। भक्ति के बोल हैं –

[२]गुरु निर्ग्रन्थ परिग्रह त्यागी, भव-तन-भोगों से वैरागी।
आशा पाशी जिनने छेदी, आनंदमय समता रस वेदी॥१॥

१-२. ब्र. रवीन्द्रजी आत्मन् : जिनेन्द्र आराधना संग्रह से साभार

ज्ञान-ध्यान-तप लीन रहावें, ऐसे गुरुवर मोकों भावें।
हरष-हरष उनके गुण गाऊँ, साक्षात् दर्शन मैं पाऊँ॥२॥
उनके चरणों शीश नवाकर, ज्ञानमयी वैराग्य बढ़ाकर।
उनके ढिंग ही दीक्षा धारूँ, अपना पंचमभाव संभारूँ॥३॥
सकलप्रपंच रहित हो निर्भय, साधूँ आतमप्रभुता अक्षय।
ध्यान-अग्नि में कर्म जलाऊँ, दुखमय आवागमन नशाऊँ॥४॥

बोलो ! क्षुधा-तृषा परीषह विजयी मुनिराजों की जय हो..

(पश्चात् सभी अपने-अपने स्थान को वापस चले गये, पर रास्ते में व्यर्थ की विकथा न करते हुए तत्त्वचर्चा करते हुए ही गये, उसका सार)

बंदर – लोमड़ी बहन ! अब तो तुम्हें सबकुछ समझ में आ गया होगा?

लोमड़ी – हाँ, अवश्य।

कोयल – तो बताओ, तुम्हें क्या समझ में आया ?

लोमड़ी – संक्षेप में इतना समझलो कि एकमात्र देहदृष्टि ही दु:ख का कारण है, देहादि अन्य परद्रव्य नहीं।

तोता – और सुख का कारण ?

लोमड़ी – देहातीत भगवान आत्मा की दृष्टि एवं उसमें लीनता ही एकमात्र सुख का कारण है, देहादि अन्य परद्रव्य नहीं।

बंदर – कौआ महाशय ! तुम्हारा क्या विचार है?

कौआ – मैं अपनी अज्ञानता व धृष्टता पर बहुत शर्मिन्दा हूँ। मुझे ऐसे वीतरागी मुनिराज के बारे में ऐसा नहीं बोलना चाहिए था।

कोयल – मात्र मुनिराज के बारे में ही नहीं, बल्कि किसी के बारे में भी ऐसा नहीं बोलना चाहिए।

कौआ – अवश्य, मैं इस बात का अब हमेशा ध्यान रखूँगा।

तोता – वाह वाह ! हमारे कौआ भैया का बाहर से रंग भले ही काला हो, पर दिल एकदम धौला है धौला।

३-४. शीत-उष्ण परीषहजय

मंगलाचरण

अस्पर्शी ज्ञायक भगवान, ध्यावें साधु परम सुखदान।
शीत परीषह से नहीं डरें, निरावरण निर्भय नित रहें॥
रहते आत्म गुफा के माहिं, मोह ताप जिनके उर नाहिं।
सहज शान्त समता के धनी, **उष्ण परीषह** जीतें मुनी॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं –

चाहे माघ की ठण्ड हो या ज्येष्ठ की गरमी तथापि इस ओर किसी प्रकार का ध्यान न जाना और ठण्डी तथा गरमी को समतापूर्वक सह लेना अनुक्रम से शीत और उष्ण परीषहजय हैं।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

शीत परीषहजय – शीत के कारण संसार के प्राणी अति दुःखी होते हैं। हरे-भरे वृक्ष भी हिमपात के कारण दग्ध हो जाते हैं। ऐसे पौष एवं माघ माह की भयंकर शीत में महाधीर नग्नशरीरी मुनिराज, नदी

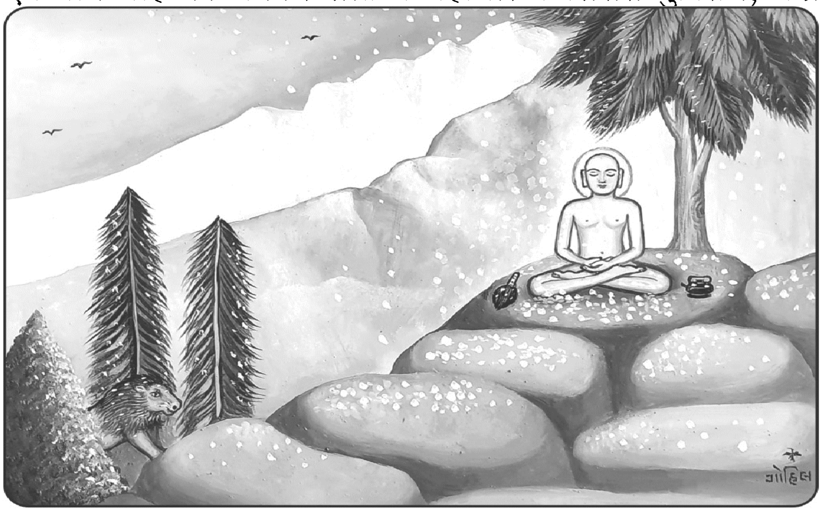

अथवा सरोवर के किनारे कायोत्सर्ग या पद्मासन धारण करके ध्यान करते हैं। उस समय शीत की बाधा होने पर भी वह खेद नहीं करते; अपितु ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव! तूने अनादिकाल से अनन्त बार छठवें-सातवें नरक में महा शीत वेदना सहन की है तथा पशुगति और मनुष्यगति में भी अत्यधिक महान शीत (ठण्ड) सहन की है।

यद्यपि तूने उसे दूर करने के लिए अनेकानेक उपाय किये हैं तो भी आज तक तेरी ठण्ड मिटी नहीं। अब तूने मुनिव्रत धारण किया है, इसी पद से मोक्ष की प्राप्ति होगी।

अतः हे जीव ! तू अब इस शीत परीषह को सम्यक् प्रकार से सहन कर। ऐसा चिन्तवन - विचार करके आत्मध्यान में लीन होना - यही शीत परीषहजय कहा जाता है।

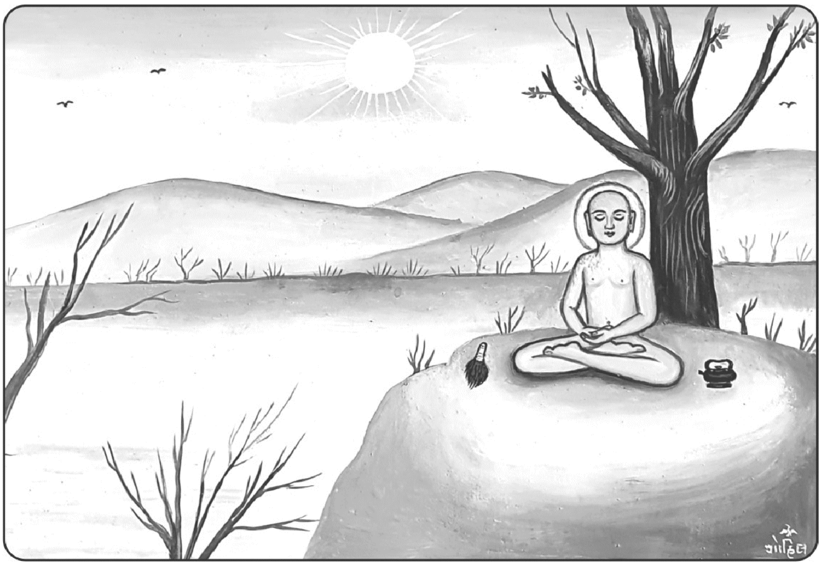

उष्ण परीषहजय - ग्रीष्म ऋतु में सूर्य बहुत तप्तायमान होता है। सारे जगत के प्राणी गरमी की पीड़ा से महा व्याकुल हो जाते हैं। नदी-सरोवरों का जल सूख जाता है। उस समय मुनिराज पर्वत के शिखर पर पत्थर की शिला पर बैठकर सूर्य के सन्मुख मुख करके आतापन योग

धारण करते हैं। तथा ऐसा विचार करते हैं कि हे आत्मन् ! नरकगति में बहुत गरमी सहन की है तो अब यहाँ गरमी है ही कितनी ? इस समय तूने मुनिव्रत धारण किया है। अतः आत्मानन्दरूपी अमृत से तृप्त होकर इतनी तुच्छ धूप की बाधा आनन्द से सहन कर। इस तरह चिन्तवन करके उष्ण परीषह सुखपूर्वक जीतते हैं। इसे ही उष्ण परीषहजय कहते हैं।

शीत-उष्ण परीषहजय वार्ता

हाथी दादा, हाथी दादा ! आज तो मैंने अपने जंगल में एक अभूतपूर्व दृश्य देखा। – बंदर मामा ने बड़े हर्षित मन से कहा।

हाथी – कहाँ ?

बंदर – अरे यहीं ऋजुकूला नदी के तट पर।

हाथी – ऐसा क्या देखा ? जो खुशी के मारे ठीक से कह भी नहीं पा रहे हो।

बंदर – क्या बताऊँ ? दृश्य ही ऐसा अनुपम व मनोहारी था।

हाथी – जरा मुझे भी तो बताओ। ऐसा क्या देखा ?

बंदर – जिस शीत से सभी प्राणी कांपने लगते हैं, सभी प्राणी अति दु:खी हो जाते हैं। हरे-भरे छोटे-बड़े पोधे भी हिमपात के कारण दग्ध हो जाते हैं। यहाँ तक कि बड़े-बड़े पेड़ भी जल जाते हैं – ऐसी भीषण ठंड में भी कोई महापुरुष हैं जो नदी के तट पर परमशांत, सौम्य, गंभीर, आनंदमुद्रा में विराजमान हैं। मानो उन पर ठंड का कोई असर ही नहीं हो रहा हो, ठंड से उन्हें कोई दु:ख ही नहीं हो रहा हो। वे तो पर्वत शिला की भांति बिल्कुल स्थिर हैं और स्वयं में ही तृप्त, पर से निर्लिप्त, आनंद की मूर्ति लग रहे हैं।

हाथी – चलो, मैं भी ऐसे महापुरुष के दर्शन कर अपने को कृतार्थ कर लूँ।

बंदर – हाँ हाँ, अवश्य चलो। (दोनों मुनिराज के दर्शन करने जाते हैं और उन्हें नमस्कार कर शांति से उनके पास बैठ जाते हैं।)

बंदर – हाथी दादा, हाथी दादा ! बताओ न ये कौन हैं ?

हाथी – अरे तुम इन्हें नहीं जानते, ये तो महामुनिराज, वीतरागी, भावलिंगी संत हैं, निकट है भवसमुद्र का किनारा जिनका – ऐसे शीत परीषह पर विजय प्राप्त करने वाले साधु परमेष्ठी हैं।

बंदर – ये शीत परीषह क्या होता है ?

हाथी – शीत अर्थात् सर्दी, जब सर्दियों के समय में भयंकर ठंड पड़ती है तब भी मुनिराज अपने आत्मा के आश्रय से इस ठंड का सहज ज्ञान कर, इससे भेदज्ञान करके ठंड से दु:खी नहीं होते। उन्हें शीत परीषह पर विजय प्राप्त करने वाले साधु परमेष्ठी कहते हैं।

बंदर – तो क्या इन्हें ठंड नहीं लगती ?

हाथी – ठंड तो पुद्गल की पर्याय है। वह तो जीव के द्वारा मात्र जानी जाती है।

बंदर – क्या मतलब ?

हाथी – अरे भाई ! समझो, जैसे हमें पैर में लकवा लग जाने पर पैर में ठंड नहीं लगती। इसका मतलब है कि पैर तो जैसे का तैसा है, पर उसमें जानने की शक्ति वहाँ शून्य हो जाती है। अत: हमें पैर में ठंड महसूस नहीं होती और दु:ख भी नहीं होता।

बंदर – तो क्या इसका मतलब ये है कि हमें जानने से दु:ख होता है ?

हाथी – बस ! यहीं तो हमसे भूल हो जाती है। दु:ख जानने से होता तो क्या इन मुनिराजों को ठंड का दु:ख नहीं होता ? पर ये

तो तुम भी मानते हो कि मानो इनको ठंड से कोई दु:ख ही नहीं हो रहा हो, पर ठंड को जान तो ये भी रहे हैं।

बंदर – हाँ, इतनी ठंड में भी ये दु:खी तो नहीं लग रहे हैं। पर इसका कारण क्या है ? जानना दु:ख का कारण लग रहा था, पर इन्हें देखकर यह भ्रम तो मेरा दूर हो गया। फिर भी दु:ख का कारण तो अभी भी समझ नहीं आ रहा है। कृपया यह तो बताओ ?

हाथी – सुनो, जानना तो आत्मा का स्वभाव है और स्वभाव दु:ख का कारण नहीं हो सकता। जब यह जीव अपने इस स्वभाव के ज्ञान बिना मात्र पर को जानकर उनमें इष्ट-अनिष्टपने की मिथ्याकल्पना करता है तब दु:खी होता है।

बंदर – तो इसका अर्थ यह हुआ कि पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि पूर्वक राग-द्वेष करना ही दु:ख का कारण है।

हाथी – हाँ, अब तुम समझे।

बंदर – लेकिन पर-पदार्थ कोई इष्ट और कोई अनिष्ट तो लगते ही हैं। इसमें हम क्या कर सकते हैं?

हाथी – नहीं, पर-पदार्थ स्वयं तो इष्ट-अनिष्ट होते नहीं हैं, हम ही किसी को भला जानकर उससे राग करने लगते हैं और किसी को बुरा जानकर उससे द्वेष करने लगते हैं; क्योंकि यदि कोई परद्रव्य भला और कोई परद्रव्य बुरा हो तो वह सबको हमेशा भला या बुरा ही लगना चाहिए पर ऐसा तो है नहीं। जैसे – सर्दी में तेज धूप अच्छी लगती है और गर्मियों में वही बुरी लगती है। प्यासे को पानी अच्छा लगता है और जिसको प्यास न लगी हो उसे पानी अच्छा नहीं लगता। अब आप ही बताओ बंदरभाई कि पानी अच्छा है या बुरा, तेज धूप अच्छी है या बुरी ?

बंदर – माना कि परद्रव्य कोई भला-बुरा नहीं है पर परद्रव्य हमें भले-बुरे लगते क्यों हैं?

हाथी – जो परद्रव्यों से अपना हित-अहित, सुख-दु:ख मानते हैं, उन्हें ही वे भले-बुरे लगते हैं; क्योंकि परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट, हित-अहित अपने-पराये एवं सुख-दुख की मान्यता – यही तो मिथ्यात्व है। परमार्थ से कोई परवस्तु ऐसी होती नहीं है फिर भी अज्ञानी ऐसा मानता है, अत: उसकी मान्यता ही मिथ्या है। इसी को मिथ्यात्व कहते हैं। विपरीत मान्यता, विपरीत अभिप्राय, विपरीत बुद्धि, विपरीत अभिनिवेश – यह सब एकार्थवाची हैं।

बंदर – पर ऐसी विपरीत बुद्धि होती ही क्यों है और इसका अभाव कैसे होगा ?

हाथी – भेदज्ञान के अभाव के कारण ही ऐसी विपरीत बुद्धि होती है। और आगमाभ्यास के बल से तत्त्वाभ्यास एवं तत्त्वनिर्णय पूर्वक भेदज्ञान होने पर ही ऐसी विपरीत बुद्धि का अभाव होगा।

बंदर – हम तो आगमाभ्यास कर ही नहीं सकते, फिर तत्त्वाभ्यास एवं तत्त्वनिर्णय पूर्वक भेदज्ञान करने की तो बात ही कहाँ रही ?

हाथी – ऐसी बात नहीं है। आगमाभ्यास का अर्थ अकेला शास्त्र स्वाध्याय करना नहीं होता। पर को पर जानना, फिर उसको अपना नहीं मानना और ऐसा ही अभ्यास बनाये रखना – यह है आगमाभ्यास का सार; क्योंकि जब हमारी दृष्टि में हमारा आत्मा अर्थात् जाननस्वभाव ही होता है तब हमारी दृष्टि पर में जाती ही नहीं है, जाती भी है तो अटकती नहीं है अर्थात् दृष्टि पर को अच्छे या बुरे रूप में नहीं देखती अर्थात् दु:खी नहीं रहती, मात्र कोई भी परद्रव्य हमारे नहीं हैं इतना ही देखती है और सुखी रहती है।

बंदर – पर ज्ञानी के जीवन में भी तो परपदार्थ के साथ ऐसा व्यवहार देखा जाता है कि वे किसी परद्रव्य को अच्छा जानकर ग्रहण करते हैं और किसी को बुरा जानकर छोड़ देते हैं। जैसे – कुदेवादि का सेवन नहीं करते और सच्चे देवादिक का सेवन करते हैं। फिर ज्ञानी-अज्ञानी में क्या अंतर रहा ?

हाथी – यह भी हमारा भ्रम ही है। परमार्थ से तो वे किसी भी परद्रव्य को भला-बुरा नहीं जानते-मानते। वे परद्रव्यों का संयोग-वियोग कर्म के आधीन जानते हैं, अत: मात्र उनके ज्ञाता-द्रष्टा ही रहते हैं। उनकी मान्यता में कोई भी परद्रव्य उन्हें सुख-दुख दाता या अपने रूप नहीं भासता। अत: वे तो ज्ञाता-द्रष्टा रहते हुए आनंद में रहते हैं।

कुदेवादि को छोड़कर सच्चे देवादिक को ज्ञानी अपने हित के अर्थ सेवन करते हैं। तात्पर्य यह है कि उनके बताये हुए मार्ग पर स्वयं चलकर सुखी होते हैं, वे मुझे सुखी कर देंगे ऐसे भ्रम में नहीं रहते। अत: चारित्रमोह के उदय में होनेवाली अपनी कमजोरी को दूर करने हेतु निरन्तर उद्यमवंत रहते हैं। मुनिराजों के यह पुरुषार्थ उग्र होता है।

इसीप्रकार सभी परद्रव्यों पर घटित कर लेना चाहिए। किसी एक परद्रव्य पर तुम घटित करके बताओ ?

बंदर – जी ! जैसे मैं आपके लिए परद्रव्य हूँ वैसे ही आप मेरे लिए पर हैं; परन्तु मेरा एक प्रश्न है कि ऐसा सभी परद्रव्यों पर कहाँ घटता है ? जैसे– मैं बंदर हूँ, पेड़ मेरा है, फलों को लाने का काम मैं ही करता हूँ और उनको भोगता भी मैं ही हूँ। इसमें क्या गलती है?

हाथी – अरे ! इसमें सही क्या है ? इसमें तो गलती ही गलती है। समझो ! बंदर इस देह का नाम है या फिर इस देह में रहनेवाले

जीवतत्त्व का नाम है ? दूसरा, यदि पेड़ तुम्हारा है तो पेड़ की तरह तुम में भी फल, फूल, डाली, पत्ते होना चाहिए और उनके टूटने पर तुम्हें दर्द भी होना चाहिए। यदि तुम फल लाते हो तो बे-मौसम में भी लाना चाहिए, बोलो ला सकते हो ? अब रही बात भोगने की, सो बताओ कि यदि तुम्हारा ज्ञान काम करना बंद कर दे, तब फिर तुम्हें भोगने का मजा आयेगा ? **यदि नहीं तो फिर मजा ज्ञान में से आया या फल में से ? और ज्ञान में से आया तो फिर तुमने ज्ञान से फल को जाना या भोगा?**

बंदर – वाह वाह ! आज की चर्चा में तो मजा आ गया।

हाथी – अकेले चर्चा में मजा आने से काम नहीं चलेगा। इसे सबसे पहले अपनी श्रद्धा में लेना होगा फिर क्रम से चर्या में भी।

बंदर – इसके लिए क्या करना होगा ?

हाथी – अविच्छिन्न धारावाही भेदज्ञान।

बंदर – कुछ विस्तार से बताओ न ?

हाथी – अभी अधिक बताना तो सम्भव नहीं है, पर इतना समझ लो कि बुद्धिपूर्वक तो हमें परद्रव्यों में अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि व भोक्तृत्वबुद्धि को त्यागना होगा।

बंदर – ये तो बहुत कठिन भाषा हो गई जरा सरल भाषा में बताओ न ?

हाथी – अरे ! इतना कठिन नहीं है, पहली बार सुनने से कठिन लगता है। सुनो, अहं = मैं, ममत्व = मेरा, कर्तृत्व = कर्त्ता, भोक्तृत्व = भोक्ता, बुद्धि = मान्यता। अब मुझे बताओ – क्या कोई परद्रव्य 'मैं' हो सकता है ? क्या कोई परद्रव्य 'मेरा' हो सकता है ? क्या किसी परद्रव्य का 'मैं' कर्त्ता हो सकता हूँ ? क्या किसी परद्रव्य

को मैं भोग सकता हूँ ? जैसे – तुम मेरे लिए परद्रव्य हो। क्या 'मैं' तुम हो सकता हूँ ? क्या 'मैं' तुम्हारा हो सकता हूँ ? क्या मैं तुम्हें कर सकता हूँ ? क्या मैं तुम्हें भोग सकता हूँ ?

बंदर – कभी नहीं.... हाँ ! अब समझ में आया।

हाथी – तो बताओ ?

बंदर – वास्तव में ज्ञानस्वभावी जीवतत्त्व ही मैं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ और जब मैं शरीर को अपना नहीं मानूँगा तब शरीर से संबंधित अन्य पदार्थों से भी अपने आप ही सभी संबंध छूट जावेंगे।

हाथी – बहुत सुन्दर, अब तुम सही समझे।

बंदर – फिर भी आते हुए परसंबंधी विकल्प कैसे मिटें ?

हाथी – परद्रव्यों को भिन्न मानने में और अपने को अपना मानने में जितनी गहराई होती है, उतने ही परजनित विकल्प कम होते हैं। जब पूर्णत: विकल्प बंद हो जाते हैं, तब यह जीव पूर्णत: सुखी हो जाता है। परन्तु **विकल्पों का पूर्णत: अभाव तो मुनिपर्याय में ही संभव है।** तात्पर्य यह है कि मुनिराज ही समस्त विकल्पों का अभाव करके केवलज्ञान स्वरूप निर्विकल्प दशा प्राप्त करते हैं।

बंदर – अब समझा कि ये मुनिराज इतनी ठंड में भी दु:खी क्यों नहीं हैं।

हाथी – तो बताओ कि ये दु:खी क्यों नहीं हैं ?

बंदर – क्योंकि इनकी दृष्टि शीत पुद्‌गलपर्याय पर नहीं है।

हाथी – और इनकी दृष्टि शीत पुद्‌गलपर्याय पर क्यों नहीं है ?

बंदर – क्योंकि इनकी दृष्टि अपने जाननस्वभावी आत्मा पर ही टिकी है/स्थिर है।

हाथी – शाबास !

बंदर – फिर तो शीत की तरह उष्णता का भी इन्हें दु:ख नहीं होता होगा ?

हाथी – हाँ ! क्योंकि शीत की भाँति उष्णता भी तो पुद्‌गलद्रव्य के स्पर्श गुण की ही पर्याय है और उस पर भी इनकी दृष्टि नहीं है। इनकी दृष्टि तो अपने ज्ञायक स्वभाव पर ही है और ज्ञायक स्वभाव में दु:ख होता नहीं है। अत: इन्हें शीत की भाँति उष्णता से भी दु:ख नहीं होता।

अत: बोलो ! **जाननस्वभाव-धारक शीत एवं उष्ण परीषह विजयी मुनिराजों की जय हो।**

प्रश्न – जब श्रावकगण मुनिराजों के उपसर्ग दूर करते हैं, उन्हें उनका उपसर्ग दूर करने का भाव आता है, आ सकता है तो फिर परीषहों की प्रतिकूलता दूर करने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर – उपसर्ग दुष्टों द्वारा किए जाते हैं, वे तो अप्राकृतिक आपदायें हैं, अत: उन्हें दूर करने का भाव आना साधर्मी भाइयों को स्वाभाविक है। किन्तु परीषह तो प्राकृतिक प्रतिकूलतायें हैं, उन्हें दूर करने का भाव साधर्मीजनों को नहीं आता।

जब कोई दीक्षा लेता है तो वह अच्छी तरह जानता है कि मौसम की प्रतिकूलता तो आनेवाली ही है। जंगल में वास करेंगे, तो वहाँ भी अनेक प्रकार की प्रतिकूलतायें होगी ही। इसीप्रकार क्षुधा-पिपासा रोग आदि भी होंगे ही। इन सब प्रतिकूलताओं में जीवन-यापन का संकल्प लेकर उन्होंने दीक्षा ली हैतो फिर वे परीषहों के विरुद्ध व्यवस्था किसप्रकार चाह सकते हैं।

– तत्त्वार्थमणिप्रदीप, पेज-359

5. दंशमशक–परीषहजय

मंगलाचरण

डंसमशक जब तन में लगें, ज्ञानरूप में मुनिवर पगें।
बहे ज्ञानधारा उर माहिं, परीषह में उपयोग सु नाहिं॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं –

डांस–मच्छर आदि जन्तुओं का उपद्रव होने पर खिन्न न होते हुए उसे समभाव से सह लेना और तत्सम्बन्धी किसीप्रकार का विकल्प मन में न लाना दंशमशक परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

डांस, मच्छर, चींटी, मकोड़ा आदि जीवों के डंक की पीड़ा जगत के प्राणी सहन नहीं कर पाते; परन्तु योगीश्वर उन सबकी बाधा – पीड़ा सहन करते हैं। काटनेवाले सभी प्राणियों द्वारा अपने नग्न शरीर में बहुत बाधा – पीड़ा उत्पन्न किये जाने पर भी वे मुनि महाराज कभी भी मन में खेद नहीं करते। इसतरह दंशमशक परीषह जीतते हैं।

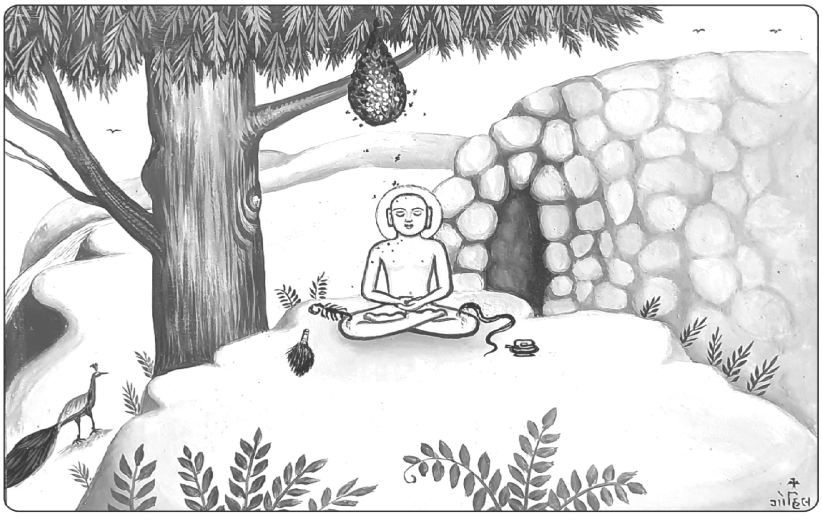

दंशमशक–परीषहजय वार्ता

जड़मति कुमार – भाई चेतन ! आजकल मच्छरों ने तो नाक में दम कर रखा है – ऐसा कहते हुए जड़मति ने अपने हाथ से अपने ही गाल पर एक चपत लगा दी।

चेतन कुमार – अरे भाई ! ऐसी क्या बात है, जिससे कि तुम मच्छरों को इतना कोस रहे हो ? और उन पर गुस्सा उतारने हेतु अपने ही गाल पर थप्पड़ मार लिया।

जड़मति कुमार – ऐसी बात नहीं है। मैंने अपने गाल पर थप्पड़ नहीं मारा है, मैंने तो गाल पर बैठे मच्छर पर थप्पड़ मारा है।

चेतन कुमार – ओ हो ! अब समझा ! पर भाई मुझे एक बात बताओ, मच्छरों के लिए कोई दुकानें तो खुली नहीं हैं और यदि थोड़ा सा तुम्हें काट भी लिया, तो क्या उसके बदले तुम उनकी जान ही ले लोगे।

जड़मति कुमार – नहीं भाई ! हम उनको मार नहीं रहे, हम तो उनसे बचने के लिए ही यह सब करते हैं।

चेतन कुमार – क्या फिर भी बच पाते हो ?

जड़मति कुमार –– पूरी तरह तो नहीं, पर जितना बचे उतना..

चेतन कुमार – भाई ! वास्तविकता तो यह है कि हम बच तो बिल्कुल भी नहीं पाते, पर फँस जरूर जाते हैं।

जड़मति कुमार – वह कैसे ?

चेतन कुमार – दखो, क्या तुम नहीं जानते...? कि हमारे वीतरागी संत मुनिराज वन, जंगल, गुफा, पहाड़ आदि में ही रहते

हैं। और उन्हें वहाँ मात्र मच्छर ही नहीं अनेक प्रकार के जीव-जन्तु काट लेते हैं, यहाँ तक कि कभी किसी मुनिराज को तो साँप-बिच्छू जैसे जहरीले जानवर भी काट लेते हैं, सियालनी, शेर जैसे क्रूर जानवर भी उनपर हमला कर लेते हैं; तब भी वे उनको मारते तो हैं ही नहीं, उनका प्रतिकार भी नहीं करते।

जड़मति कुमार – तो क्या वे अपनी सुरक्षा के लिए कुछ नहीं करते ?

चेतन कुमार – नहीं भाई ! वे ऐसा कोई उपाय नहीं करते, जिससे दूसरे जीवों का घात हो अथवा उन्हें किंचित् भी बाधा पहुँचे।

जड़मति कुमार – वे कैसा उपाय नहीं करते हैं ? कृपया यह बतावें तो मुझ अज्ञानी को भी कुछ ज्ञान मिले।

चेतन कुमार – आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 9 के सूत्र 9 की टीका करते हुए अर्थ-प्रकाशिका में पण्डित सदासुखदासजी लिखते हैं – ''जिन्होंने शरीर को ढाकने का त्याग किया है, अपने रहने के स्थान को वस्त्रों से बांध कर घेरने का त्याग किया है, किसी स्थान विशेष में रहने का नियम नहीं है। दूसरों के लिए बनाये (खाली पड़े हुए निर्जन) मठ, मकान, गुफा, तलहटी आदि में रात्रि व दिन में निवास करते हैं। डॉस, मच्छर, मक्खी, पीहू, जुवां, खटमल, कीड़ा, चींटी, साँप, बिच्छू, बर्र इत्यादि तीव्र वेदना उत्पन्न करने वाले अनेक जीवों के तीक्ष्ण डंकों द्वारा मर्मस्थान में काट लेने पर भी अपने परिणामों में विषाद नहीं करते।''

जड़मति कुमार – इसका मतलब तो हम कुछ करें ही नहीं, मुनिराजों की तरह सबकुछ सहन करते रहें।

चेतन कुमार – नहीं भाई ! बात ऐसी नहीं है। मुनिराज भी उपाय तो करते हैं; पर हमारे जैसा अनर्थकारी नहीं।

जड़मति कुमार – फिर वे कैसा उपाय करते हैं ?

चेतन कुमार – उन महामुनिराजों के उपाय स्वोपकार के साथ परोपकारक भी होते हैं। वहीं आगे पं. सदासुखदासजी लिखते हैं–

''वे अपने कर्म के उदय का विचार करते हैं। किसी विद्या, मंत्र, औषधि आदि उपचार से उस परीषह को दूर करने की इच्छा नहीं करते। कर्मरूपी शत्रु के नाश का उद्यम करते हुए समस्त जीवों के प्रति दया के उद्यमी होकर रहते हैं। उनके दंशमशक परीषहजय होता है।''

तात्पर्य यह है कि जिन कर्मों के कारण मच्छर काटते हैं, वे उन कर्मों को काटते हैं और हम उन मच्छरों को मार कर उन कर्मों का दृढ़तर बँधन कर लेते हैं।

जड़मति कुमार – पर क्या करें चेतन भाई ! मच्छर के काटने से बीमारियाँ फैलती हैं फिर दवाईयाँ लेनी पड़ती हैं इत्यादि अनेक समस्यायें खड़ी हो जाती हैं।

चेतन कुमार – सर्वथा ऐसा नहीं है भाई ! हमारे साता के उदय बिना दवाईयाँ भी कुछ नहीं कर पाती अन्यथा दवाई लेने वाले कभी बीमार ही न पड़ते।

जड़मति कुमार – पर सावधानी तो रखनी ही पड़ती है।

चेतन कुमार – भाई ! सावधानी के नाम पर हमारे उपाय मात्र मच्छरों को मारने तक सीमित हैं और ज्ञानियों के, मुनिराजों के उपाय अपनी सुरक्षा तक सीमित हैं। उन्हें अपने मरण की कीमत पर भी

किसी जीव को मारने का विकल्प तक नहीं आता और हम मरने की बात तो दूर, बीमारी की शंका मात्र से उन्हें मारने के उपाय करने लगते हैं। ऑल आउट, कछुआ छाप, कीटनाशक आदि उन्हें मारने के साधन नहीं तो और क्या हैं ?

जड़मति कुमार – सच कहा आपने...।

चेतन कुमार – देखो, तुम उन्हें मारकर अपना बचाव तो नहीं कर पाते, बल्कि अपने को महाकष्ट में डाल लेते हो। जबकि मुनिराज उनके द्वारा काटे जाने पर मरण को प्राप्त होकर भी अमर होने के मार्ग पर चलते रहते हैं।

जड़मति कुमार – वाह ! क्या बात है ?

चेतन कुमार – भाई ! बात तो ऐसी ही है। सचमुच हमारे कष्ट से बचने के उपाय हमें महाकष्ट के ही कारण होते हैं और महामुनिराजों का कष्ट सहना भी कष्ट मिटाने का कारण होता है।

जड़मति कुमार – पर भाई, वर्तमान में तो यही लगता है कि वे दुखी हैं और हम सुखी हैं इसका क्या कारण है ?

चेतन कुमार – यह सब बाहर में दिखता है, वास्तविक बात तो यह है कि वे सुखी हैं और हम दुखी हैं; क्योंकि यदि हम सुखी हो गये होते तो सुखी होने के नये-नये उपाय क्यों करते है ? उपाय करते हैं इससे पता चलता है कि वास्तव में हमें सुख नहीं सुख का आभास या भ्रम मात्र होता है।

जड़मति कुमार – फिर भी हम इन असफल उपायों को क्यों करते रहते हैं ?

चेतन कुमार – दर असल हमारी बुद्धि ही जड़ हो गई है।

अतः हम इस जड़देह की तो इतनी परवाह करते हैं और अपने चैतन्य द्रव्य को इस देहबुद्धि के कारण नरक–तिर्यंचादि पर्यायों में अनंतकाल तक दुःख भोगने हेतु निरंतर ऐसे जघन्य पाप करते रहते हैं। मैं उसी महाकष्ट से बचने की ही बात कर रहा हूँ।

जड़मति कुमार – फिर इससे बचने का सच्चा उपाय क्या है ?

चेतन कुमार – इसके लिए सर्वप्रथम हमें यह जानना चाहिए कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और मेरा क्या स्वरूप है तथा मेरा यह जो चरित्र बन रहा है – इसका क्या फल लगेगा ? क्या तुम यह जानते हो ?

जड़मति कुमार – हाँ ! इसमें क्या है – यह तो मैं जानता हूँ। मैं जड़मति हूँ। मैं अपने घर से आया हूँ। मैं अमीर बाप का बेटा हूँ और रही फल की बात? सो मैं जो चाहूँ उस फल को प्राप्त कर सकता हूँ।

चेतन कुमार – अरे भाई ! ऐसा नहीं है, तुम जड़मति नहीं हो, जड़मति तो तुम्हारे माता–पिता द्वारा रखा गया तुम्हारे इस शरीर का नाम है। और तुमने इस जड़ शरीर को ही मैं मान रखा है।

जड़मति कुमार – फिर वास्तविकता क्या है ?

चेतन कुमार – भाई ! वास्तव में तो हम जीवतत्त्व हैं और शरीर जड़तत्त्व है। हमारा स्वरूप अनादि, अनंत, नित्य, अविनाशी चेतन है और शरीर का स्वरूप अनित्य, विनाशीक जड़ है। हमारा कार्य मात्र जानने–देखने का है, चाहे किसी भी दशा में रहें, जानने का कार्य सदा चलता रहता है; परन्तु इस अनित्य जन्म–मरण स्वभावी देह की संगति करके हम पल–पल इसके लिए समर्पित रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि हम चौबीसों घन्टे इसके लिए जीते-मरते हैं, कमाते भी हैं तो इसके लिए और दान करते हैं तो इसके लिए। भोजन करते हैं तो इसके लिए और उपवास करते हैं तो इसके लिए। अत: इसके फल में नरकादि के दुखों के साथ स्वर्गादि के मानसिक दुखों से संतप्त रहते हुए एकेन्द्रिय दशा को प्राप्त कर अंत में जहाँ से निकले थे, वहीं निगोद के भयंकर दुखों में जा पड़ते हैं।

जड़मति कुमार – ओहो ! इसका अर्थ तो यह हुआ कि मैं शरीर नहीं हूँ फिर भी शरीर को मैं मानने की भूल चल रही है, जिसका फल भी इतना भयंकर है। पर इसका कारण कौन है ?

चेतन कुमार – अनादि से शरीर और जीव एकसाथ ही रहे हैं। यद्यपि शरीर से भिन्न जीव अरूपी है और शरीर रूपी है; अतः शरीर तो दिखता है और जीव इन द्रव्येन्द्रियों से दिखता नहीं है। इसलिए अनादि से अपने स्वरूप से अनभिज्ञ हम अज्ञानी शरीर को ही अपना मानकर सुखी-दुःखी हो रहे हैं और वास्तव में तो दुःखी ही हो रहे हैं और कम दुख को सुख मानकर संतुष्ट हैं या कहें भ्रम में हैं।

जड़मति कुमार – यह भ्रम कैसे मिटेगा ?

चेतन कुमार – जब तत्त्वज्ञान पूर्वक देह में विराजमान पर देह से भिन्न अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति करेंगे, तभी यह भ्रम भंग होगा।

जड़मति कुमार – आत्मा तो हम हैं ही फिर उसकी प्राप्ति...?

चेतन कुमार – अभी सम्पूर्ण ताकत, सम्पूर्ण कार्य देह के लिए करते हैं, इसीप्रकार जब अपने को ज्ञानस्वभावी जाननहार, मानकर, प्रत्येक कार्य के ज्ञाता-द्रष्टा रहकर अपने आत्मा को आत्मपने अनुभव किया जाता है तब आत्मा की प्राप्ति हुई कहलाती है।

जड़मति कुमार – मात्र पर के ज्ञाता–द्रष्टा रहने से आत्मा की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

चेतन कुमार – अरे भाई ! आत्मा को परवस्तु की तरह प्राप्त नहीं करना है, प्राप्त तो वह है ही। बस ! हमारे ज्ञान में जब परवस्तु हितकारी–अहितकारी, इष्ट–अनिष्ट भासित नहीं होती, मात्र ज्ञेय बन कर रह जाती है, तब ज्ञान उस पर नहीं टिककर, अपने ज्ञानस्वभाव में ही स्थिर हो जाता है। इसी को 'आत्मा प्राप्त हुआ' कहा जाता है।

जड़मति कुमार – क्या इसी के बलपर हमारे मुनिराज दंशमशक जैसे भयंकर परीषह को जीत लेते हैं ?

चेतन कुमार – जी, पर उनका यह बल इतना उग्र होता है कि सियालनी जीवंत दशा में भक्षण करती रहे तो भी ज्ञान उसपर नहीं टिकता, उसे जानकर भी निजस्वभाव पर ही टिका रहता है।

जड़मति कुमार – ऐसे स्वरूप को तो अब हमने भी समझ लिया है, पर हम तो छोटे से दुख को भी नहीं जीत पाते ?

चेतन कुमार – क्योंकि तुम उन्हें मात्र जानते नहीं हो, अनिष्ट जानते हो। ऐसे स्वरूप को मात्र जानना/समझना ही नहीं है, स्वरूप को समझकर उसे अपनाना भी है, उसे ध्याना भी है और एकबार अपना स्वरूप समझ में आ गया तो फिर अबतक हुए समस्त दुःखों का अंत निश्चित समझिये।

इसीलिए मुनिराज ही दंशमशक–परीषहविजयी होते हैं; गृहस्थ नहीं। पर गृहस्थ भी अपनी भूमिकानुसार मच्छर आदि से बचने का अहिंसक उपाय करते ही हैं, पर उनकी हिंसा के साथ कोई उपाय नहीं करते। पर श्रद्धान तो ऐसा ही रखते हैं कि हमारा आत्मा शरीर से

भिन्न चेतन द्रव्य है। इसीप्रकार सभी आत्माएँ चेतन द्रव्य हैं और सभी अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं, अपनी ही विराधना का फल भोगते हैं। अतः हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए।

जड़मति कुमार – अरे वाह मित्र ! आज तो आपने बातों ही बातों में मुझे भयंकर पापों से बचा लिया और साथ ही महामुनिराजों का सच्चा स्वरूप भी समझा दिया।

चेतन कुमार – इसमें मेरा क्या है ? मैंने तो वही बताया है जो आचार्यों ने शास्त्रों में लिखा है। आप भी शास्त्र स्वाध्याय किया करो, शास्त्रसभा में आया करो। मंदिरजी में नियमित शास्त्रसभा चलती है।

जड़मति कुमार – अवश्य आया करूँगा। अब चलता हूँ।

(दोनों मिलकर एक साथ बोलते हैं।)

दंशमशक-परीषहजयी महामुनिराजों की.... जय हो।

अ. मुनिराजों को अयोग्य क्षेत्र व अयोग्य काल में आहार लेने की वांछा नहीं होती।

ब. आहार के अलाभ को लाभ से भी अधिक मानते हैं।

स. वे आवश्यक क्रियाओं को किंचित्मात्र भी घटाते नहीं हैं।

– सर्वार्थसिद्धि वचनिका से मुख्यांश साभार

द. मुनिराज ने कामिनी का संग ऐसे त्याग दिया है, जैसे सज्जन पुरुष दुर्जन का साथ छोड़ देते हैं।

– पुरुषार्थसिद्धि उपाय, पृष्ठ-250

य. परीषहजयश्चेति ध्यानहेतवः – परीषहजय ध्यान का कारण है।

– वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा 57 की टीका से साभार

मंगलाचरण

निर्विकार शोभे परिणाम, यथाजात तनरूप ललाम।
ध्यावें अपने को अशरीर, नग्न परीषह जीतें वीर॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं – नग्नता को धारणकर किसी प्रकार की लज्जा और ग्लानि का अनुभव नहीं करना और उसके योग्यतापूर्वक निर्वाह के लिए अखण्ड ब्रह्मचर्य का धारण करना नग्नता परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं – नग्न मुद्राधारी महा अविकारी मुनि भयंकर वन में एकाकी रहते हैं। सूत के वस्त्र, रेशमी वस्त्र, टाट के वस्त्र, सण (घास) के वस्त्र तथा घास आदि के सकल प्रकार के वस्त्रों का त्याग करते हैं। चर्म, रोम तथा वृक्षों के बल्कलादि कुछ भी नहीं रखते। जिनके दशों दिशायें ही वस्त्र हैं, उन्हें और क्या चाहिए? ऐसे दिगम्बर मुनिराज अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने आत्मध्यान में लीन रहते हैं। नग्न रहने से रंचमात्र भी दुख नहीं मानते, हमेशा अपने आत्मा में लीन रहते हैं – इसी को नग्न परीषहजय कहते हैं।

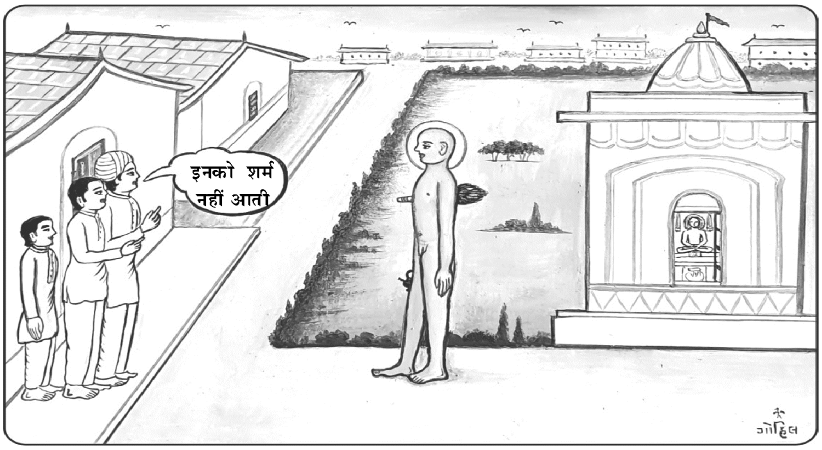

नग्न-परीषहजय वार्ता

सुरेश – भाई रमेश ! एक बात बताओ कि जब मनुष्य जन्म लेता है, तब नग्न होता है और कहते हैं कि जब मरता है, तब भी नग्न ही होता है अर्थात् अर्थी पर लिटाते समय उसके समस्त वस्त्र उतार कर उसपर कफन डाला जाता है और पश्चात् चिता जलाने के पूर्व वह कफन भी हटा दिया जाता है।

रमेश – अरे सुरेश ! तू आज मिलते ही क्या यह जन्म-मरण, नग्नता आदि की बातें लेकर बैठ गया, आखिर बात क्या है ? तू कहना क्या चाहता है ?

सुरेश – दोस्त ! मुझे आज प्रातःकाल ही एक नग्न दिगम्बर मुनिराज के दर्शन हुए; उन्हें देखकर ऐसा लगा कि ये जगत से निस्पृही, स्पर्शनादि के विषयों से, वस्त्रादि एवं स्त्री आदि के भोगों से रहित होने पर भी बड़े सुखी, स्वाधीन एवं समताधारी हैं।

रमेश – हाँ यह तो ठीक है, पर इसमें नग्न ही जन्मता है, मरने पर नग्न ही जलाया जाता है – इन सब बातों का क्या मेल है ?

सुरेश – अरे सुन तो सही ! मैं उन मुनिराज के दर्शन करके और उनका ज्ञान-वैराग्य रस से भरा हुआ तत्त्वोपदेश सुनकर जब लौटकर घर आ रहा था, तब मेरे चित्त में – ये सब प्रश्न तो घूम ही रहे थे, उसी समय मुझे एक नग्न बालक रेत में खेलता हुआ दिखा, मेरा विचार और भी अधिक गहराने लगा कि यह बालक भी किसी प्रकार की चिंता या दुःख से ग्रसित नहीं लगता।

रमेश – इससे तुम कहना क्या चाहते हो ?

सुरेश – क्या तुम सीधे-सादे शब्दों में ही सुनना चाहते हो,

तो सुनो ! इस सबसे मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि ''नग्न व्यक्ति, सुखी होता है।''

रमेश – भाई ! तुम्हारा कहना सही होने पर भी सही नहीं है क्योंकि नग्न तो भोगों का भिखारी भी होता है, पर वह सुखी नहीं होता; अतः ऐसा कहो कि ''जो–जो सुखी होता है, वह–वह नग्न होता है।'' परन्तु जो–जो नग्न होता है, वह सुखी हो ही – यह जरूरी नहीं है।

सुरेश – इसका मतलब तो यह हुआ कि संसार में हम कोई भी सुखी नहीं हैं।

रमेश – अरे भाई ! तुम, फिर सही समझ कर भी, सही नहीं समझ पा रहे हो।

वास्तव में बाहर की नग्नता की अपेक्षा यह बात सत्य नहीं है, यह तो अंदर की नग्नता की अपेक्षा रखती है। चतुर्थ गुणस्थान–वर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि भी मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय–चौकड़ी से तो रहित ही है – नग्न ही हैं, भले ही बाहर में वस्त्रादि से रहित – नग्न ना हो।

इसीप्रकार पंचम गुणस्थानवर्ती मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी एवं अप्रत्याख्यानावरण कषाय–चौकड़ी से रहित अर्थात् नग्न हैं, बाहर में भी यथायोग्य बाह्यपरिग्रह आदि से रहित हुए हैं।

अतः संसार में चतुर्थ आदि गुणस्थान से लेकर सभी कम–ज्यादा सुखी हैं, लेकिन मिथ्यादृष्टि जीव दुःखी ही हैं।

सुरेश – इसका अर्थ तो यह हुआ कि बाहर की नग्नता हो या न हो, सुखी होने के लिए तो अंदर की कषायों का अभाव ही कारण

है। तब फिर मुनिराज नग्न क्यों होते हैं ? जगत् में नग्नता तो अच्छी भी नहीं मानी जाती।

रमेश – जगत में क्या अच्छा माना जाता है और क्या बुरा माना जाता है, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण तो यह है कि क्या अच्छा है और क्या अच्छा नहीं है।

दूसरी बात, विकारों को छुपाने के लिए वस्त्र पहने जाते हैं और जिनके विकार मिट जाते हैं, उनको वस्त्रों की क्या जरूरत ? अत: उनका वस्त्रों के प्रति राग ही नहीं रहता। बस ! इसीलिए मुनिराज वस्त्र ग्रहण नहीं करते और जो गृहस्थ अवस्था में ग्रहण किये थे, उन्हें भी छोड़ देते हैं; क्योंकि कषायों के सद्भाव होने पर वस्त्रों के सद्भाव होने का और कषायों के अभाव होने पर वस्त्रों के अभाव होने का निमित्त-नैमित्तिक संबंध सहज ही होता है।

सुरेश – तब फिर मुनिराजों के ही वस्त्रों का त्याग क्यों होता है, गृहस्थों के क्यों नहीं होता ?

रमेश – गृहस्थों के दो कषाय-चौकड़ी के अभाव में तथा दो कषाय-चौकड़ी के सद्भाव में ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध पाया जाता है एवं मुनिराजों के तीन कषाय-चौकड़ी के अभाव में और एक कषाय-चौकड़ी के सद्भाव में ऐसा ही संबंध पाया जाता है। बस ! इसलिए गृहस्थों के वस्त्र होते हैं और मुनिराजों के नहीं।

सुरेश – मिथ्यादृष्टि मुनि के भी तो वस्त्रों का अभाव होता है, पर उनके कषाय का अभाव नहीं होता।

रमेश – अन्दर से बाहर की व्याप्ति तो होती है, पर बाहर से अन्दर की व्याप्ति हो – यह जरूरी नहीं है।

सुरेश – क्या मुनिराजों को नग्न रहने में लज्जा नहीं आती ?

रमेश – अरे ! जिन्हें विकार होता है, उन्हें लज्जा आती है; वास्तव में तो लज्जा विकार से आना चाहिए और आती है नग्नता से। जैसे– मनुष्य, अपराध करने से तो नहीं डरता, लेकिन पकड़ा न जाए इससे डरता है, जबकि उसे अपराध करने सेडरना चाहिए।

अरे ! मुनिराजों के तो नग्नता नामक छठवा परीषह होता है और वे हमेशा अपने आत्मा में लीन रहकर, उसे जीतते रहते हैं; इसीलिए उन्हें नग्नता से लज्जा नहीं आती।

नग्न तो भोगी और योगी दोनों होते हैं; परन्तु ध्यान रहे – **भोगी पराश्रित होते हैं, दुःखी होते हैं; अतः लज्जित होते हैं और योगी स्वाश्रित होते हैं, सुखी होते हैं; अतः लज्जित नहीं, गौरवान्वित होते हैं। भोगी परीषहवान होते हैं और योगी परीषहजयी होते हैं।**

सुरेश – थोड़ा विस्तार से बताओ न ?

रमेश – वे तो बालकवत् निर्विकार होते हैं, उन्होंने अपने आत्मा को भी अंदर से खुला रख दिया है और बाहर में शरीर को खुला रख दिया है। कहा भी है –

"**निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी प्रकट हो रहा अन्तर्मन।**"

वास्तव में उन्हें अपने आत्मस्वभाव की ऐसी लगन लगी है कि शरीर का नग्नपना बालक जैसा दिखता है, उन्हें इस संबंध में कोई विकल्प ही नहीं होता। स्वामीजी कहते हैं कि "25 वर्ष का जवान राजकुमार हो, अंदर में कषायों से नग्न (रहित) हो गया हो तब बाहर में नग्न (वस्त्र रहित) दिगम्बर दीक्षा धारण कर मणिरत्न के पुतले के समान निर्विकार चल पड़ता है।"

वास्तव में अब उसमें लज्जा का कोई कारण ही शेष नहीं रहा, तब फिर नग्नता में लज्जा कैसी ? लज्जा का कारणभूत विकार तो पहले ही नष्ट हो चुका है।

सुरेश – तो क्या परीषह या परीषहजय का संबंध आत्मा से ही है, पर से बिल्कुल नहीं है?

रमेश – हाँ! आत्मा की विकारी या निर्विकारी दशा का संबंध आत्मा से ही होगा, पर से कैसे हो सकता है ?

सुरेश – तब फिर परीषहों के 22 भेद कैसे हो गये ?

रमेश – सुनो ! परमार्थ से तो सभी परीषह आत्मस्थिरता में ही जीते जाते हैं और आत्मस्थिरता के अभाव में होते रहते हैं, परन्तु अज्ञानी पर से ही अपने को दुखी मानता है, अत: परीषह या कष्ट जिसप्रकार का बाहर में निमित्त दिखाई देता हो, उससे भेदज्ञान कर मुनिराज अपने उपयोग को अपने में स्थिर करते हैं, तब उसप्रकार के परीषह को जीतना कहलाता है। तभी मुनिराज, आस्रवों को जीतकर संवरपूर्वक कर्मों की निर्जरा करते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं। कहा भी है – "**आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवंत तिन्हें निरवेरे।**"

प्राप्त परीषहों से न जुड़कर, उनसे भेदज्ञान करने से आस्रव का अभाव होता है और संवर प्रकट होता है।

सुरेश – किसी विकारी स्त्री-पुरुष को देखकर उन्हें विकार नहीं होता ?

रमेश – बिल्कुल नहीं ! वे तो अखण्ड ब्रह्मचर्य के धनी होते हैं। ब्रह्म अर्थात् आत्मा और चर्य अर्थात् उसमें लीन रहनेवाले; जो नित्य ही आत्मा के आनंद में विचरण/रमण करते हों, उन्हें किसी

विकारी को देखकर विकार नहीं, अपितु उस पर करुणा आती है कि यह चिंतामणि के समान उत्तम नरभव पाकर भी इसे विकारों की पूर्ति करने में बर्बाद कर रहा है। वे तो सदा ऐसा ही विचार करते रहते हैं कि ''नग्नपना तो शरीर का है और मैं शरीररूप कहाँ हूँ, मैं शरीर कहाँ हूँ, मैं तो मुझमें हूँ अर्थात् इस शरीर को भी मात्र जाननेवाला हूँ।

अरे भाई ! मुनिराजों का वास तो आत्मा में है, शरीर में या जंगल में नहीं। ब्र. रवीन्द्रजी 'आत्मन्' ने कहा भी है –

वनवासी व्यवहार कहत हैं, निज में निवसन हारे हैं।
धनि मुनिराज हमारे हैं॥
घोर परीषह उपसर्गों को, सहज ही जीतन हारे हैं।
धनि मुनिराज हमारे हैं॥

अतः दुनिया को भले लज्जा आवे, पर वे अपनी नग्नता पर रंचमात्र भी लज्जा या दुःख नहीं मानते।

बोलो, नग्न परीषहजयी महामुनिराजों की जय हो।

अन्तर में जो भगवान आत्मा शक्तिरूप से मोक्षस्वरूप विराजता है, ऐसे निजस्वभाव के आश्रय करने पर जितनी वीतरागता उत्पन्न हो, वह 'मोक्षपंथ' है। अन्तर स्वभाव के आश्रय में जो अप्रमत्तभाव उत्पन्न हो, वह 'मुक्तिमार्ग' है। तथा जो पंचपरमेष्ठी में सम्मिलित हैं। 'णमो लोए सव्व साहूणं' कहने पर जिन्हें गणधर देव का नमस्कार पहुँचता है, वे भावलिंगी मुनि हैं। **– पू. गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के समयसार गाथा 14 पर हुए प्रवचन से साभार, प्रवचनरत्नाकर भाग 1, पृष्ठ–239**

7. अरति परीषहजय

मंगलाचरण

पापोदय का कार्य विचार, वर्ते सहजहि जाननहार।
अरति तजैं संयम दृढ़ रहैं, ते मुनि कर्मकालिमा दहैं॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं – यद्यपि निर्जन वन और तरुकोटर आदि में सबका मन नहीं लग सकता, तथापि साधु वहाँ निवास करते हुए भी अपने प्रतिदिन के कर्तव्यों में तत्पर रहते हैं, इससे उन्हें रंचमात्र भी ग्लानि नहीं होती, यह उनका अरति परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं – जगत के जीव इष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर रति मानते हैं और अनिष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर अरति – खेद मानते हैं; किन्तु मुनिराज चाहे जंगल में रहें, कोई उनको भला-बुरा कहे तो भी कदापि रति-अरति नहीं मानते। जिनके महल और भयंकर वन, शत्रु और मित्र, कनक और पाषाण, स्तुति और निन्दा, सुख और दुःख जीवन और मरण सर्व समान हैं अर्थात् अपने चित्त में सदैव समता धारण करनेवाले साधु अरति परीषह जीतते हैं।

अरतिपरीषहजय वार्ता

नरेन्द्र – जो हमें इष्ट नहीं होता, हम तो उस पदार्थ, स्थान, व्यक्ति, सामग्री से रति नहीं करते। उनसे तो हमें अरतिभाव ही होता है। और यदि उनका समागम हो भी जाये तो हमें उससे कोई प्रसन्नता या सुख नहीं होता, उल्टा खेद या दुख ही होता है।

सुरेन्द्र – बात तो तुम्हारी सही है, पर इसमें इतना परेशान होने की क्या बात है?

नरेन्द्र – अरे भाई ! बात परेशानी की नहीं है, पर विचार करने की जरूर है।

सुरेन्द्र – इसमें विचार करने की ऐसी कौनसी बात है, ये तो जगत का स्वरूप ही है। जो हमें इष्ट होते हैं, हम उनसे प्रेम करते हैं, रति करते हैं, उनके पास जाना, रहना चाहते हैं और जो हमें अनिष्ट होते हैं, उनके पास न जाना चाहते हैं, न रहना चाहते हैं।

नरेन्द्र – भाई ! बात ऐसी है कि कल मैं अपने पिताजी के साथ पड़ोस के गाँव में गया था, वहाँ रास्ते में मैंने जंगल में श्मशान भूमि के पास एक नग्न व्यक्ति को बैठा देखा, मैंने सोचा कोई पागल होगा? पर पिताजी ने बताया कि वे तो जैनियों के मुनिराज हैं।

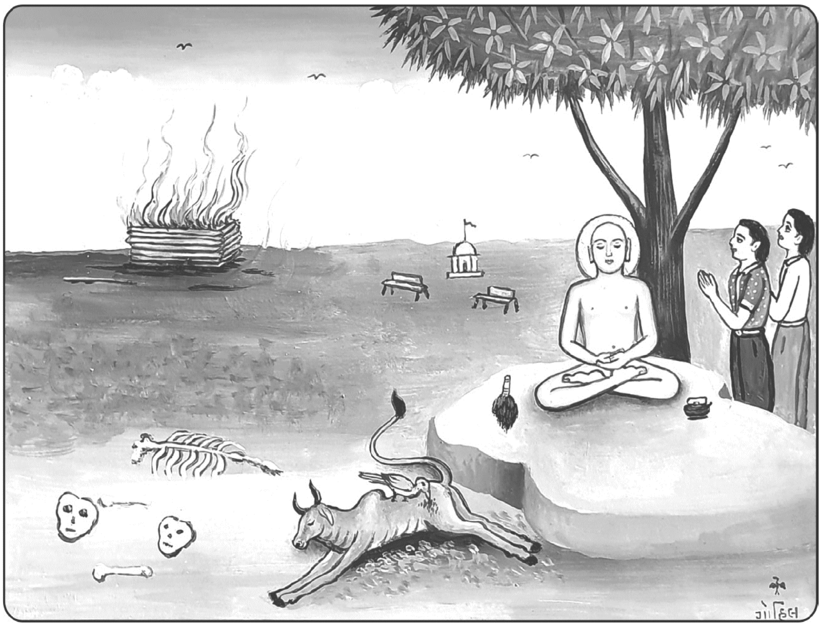

सुरेन्द्र – फिर क्या हुआ ? क्या उनका उपदेश सुना ?

नरेन्द्र – नहीं भाई! शाम हो गई थी और वे ध्यान में बैठे थे, पिताजी ने यह भी बताया कि वे रात्रि में बोलते नहीं हैं।

सुरेन्द्र – महाभाग्य से महामुनीश्वरों के दर्शन होते हैं तू तो बड़ा भाग्यशाली है।

नरेन्द्र – सो तो हूँ ही, पर मेरा प्रश्न तो यह है कि एक तो जंगल में वह भी अकेले, और श्मशान के पास, श्मशान में तो मुर्दों को जलाया जाता है। वहाँ राख, धूल, धुँआ, अग्नि एवं अनेक प्रकार की गंदगी रहती है, वहाँ उन्हें कैसे अच्छा लगता होगा ? और सुना है वहाँ रात्रि में तो भूत-प्रेत भी आकर नाचते हैं।

सुरेन्द्र – बात तो तेरी सही है मित्र ! मैं तो इस संदर्भ में कुछ नहीं कह सकता, पर हाँ ! अपने विद्यालय में जैन साहब हैं, वे जरूर हमारी इस शंका का समाधान कर सकते हैं। (दोनों एक साथ जैन साहब से मिलने चले जाते हैं।)

(एक साथ मिलकर) सर ! क्या आप हमें जैन साधुओं के बारे में कुछ बतायेंगे?

अध्यापक – हाँ-हाँ, क्यों नहीं, बोलो ! क्या जानना चाहते हो ?

नरेन्द्र – सुना है, जैन साधु किसी से डरते नहीं हैं, श्मसान में रहते हैं, जहाँ का वातावरण ही बीभत्स और भयकारी होता है।

अध्यापक – ठीक सुना है तुमने, वे बहुत महान होते हैं, जगत के जीवों से उनकी परिणति बिल्कुल भिन्न होती है।

सुरेन्द्र – जैसे सर !

अध्यापक – जगत के सभी जीव घर में रहते हैं, परिवार व समाज में रहते हैं, भीड़ में रहते हैं, जो उन्हें इष्ट होते हैं उनसे ही वे प्रेम, रति, राग करते हैं। जो इष्ट नहीं होते, वे उन्हें नहीं चाहते, उन्हें अपने से दूर रखते हैं...

नरेन्द्र – सर ! इसमें नई बात क्या है ? ये तो जगत की रीति है।

अध्यापक – इसीलिए तो कहा है कि लौकिक जीवों से उनकी परिणति बिल्कुल भिन्न/अलौकिक होती है। जैसे– वे घर में नहीं, वन, श्मशान, शिला, वृक्ष के कोटर आदि में रहते हैं। परिवार और समाज की भीड़ से पृथक् एकांत में रहते हैं; जगत जिनके प्रति अरतिभाव रखता है अरुचि रखता है, दिगम्बर जैन मुनि उनके प्रति भी समभाव रखते हैं। उन्हें उनसे अरति नहीं होती। वास्तव में तो उन्हें एकमात्र अपने ज्ञायक स्वभाव से ही रति होती है, बाकी जगत के किसी भी पदार्थ से न अरति होती है और न रति होती है।

सुरेन्द्र – सर ! जगत में कुछ बुरे पदार्थ हैं तो कुछ अच्छे भी तो हैं, उन्हें अच्छे पदार्थों का साथ तो अच्छा लगता होगा ?

अध्यापक – बच्चो ! तुम मुनीश्वरों का स्वरूप नहीं जानते इसलिए ऐसे प्रश्न उठते हैं। हमारे वीतरागी दिगम्बर संतों की परिणति जगत से न्यारी होती है। कहा भी है – '**मुनिनामलौकिकी वृत्ति**'

जगत को प्रतिकूलता में अरतिभाव होता है और अनुकूलता में रतिभाव होता है; **परन्तु मुनीश्वरों को दोनों में समताभाव होता है।** वास्तव में देखा जाये तो जगत में कोई भी पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं है, उनमें अच्छे और बुरे की मान्यता तो हम अपने अज्ञान से उन्हें भला या बुरा मानकर करते हैं।

नरेन्द्र – नहीं सर ! ऐसा थोड़े ही है। हमें बताओ कि अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा मानने में भी आपत्ति है क्या ?

अध्यापक – यही तो बड़ी भ्रमणा है विश्व में न कुछ अच्छा है न बुरा।

नरेन्द्र – क्यों सर ?

अध्यापक – क्या तुम मेरे प्रश्न का उत्तर दे सकते हो ?

सुरेन्द्र – पूछिये सर ! कोशिश करेंगे।

अध्यापक – अग्नि अच्छी है या बुरी ? हवा अच्छी है या बुरी ? मिठाई अच्छी है या बुरी ? जंगल अच्छा है या बुरा ? पानी बरसना अच्छा है या बुरा ?

नरेन्द्र – सर ! जिसे भोजन बनाना हो, ठण्ड मिटाना हो उसके लिए अग्नि अच्छी है और जिसका हाथ जल जाये, घर-दुकान जल जाये उसके लिए अग्नि बुरी है।

अध्यापक – मैंने ये नहीं पूछा कि किसके लिए अच्छी है और किसके लिए बुरी है ? मैं तो यह पूछ रहा हूँ कि 'अग्नि अच्छी है या बुरी'?

सुरेन्द्र – सर ! अग्नि तो अग्नि है, इसमें अच्छा-बुरापन तो हमारी उपयोगिता पर ही निर्भर करेगा।

नरेन्द्र – हाँ सर! जिसे कोई प्रयोजन ही नहीं है – ऐसे दूर खड़े व्यक्ति को उसके अच्छे या बुरेपन से क्या लेना-देना ? वह तो मात्र उसे देख-जान रहा है।

अध्यापक – तुमने बिल्कुल ठीक कहा, इसीप्रकार जैनमुनियों को भी जगत के पदार्थों से कोई प्रयोजन नहीं रहा, अतः वे मात्र उनके ज्ञाता-द्रष्टा ही रहते हैं। उन्हें वे पदार्थ भी अरति उत्पन्न नहीं करते, जो जगत के मोही, अज्ञानी जीवों को बुरे लगते हैं। इसीप्रकार उनसे रति भी नहीं होती, जिनसे जगत के जीव प्रेम/रति करते हैं।

सुरेन्द्र – वे तो उनके भी मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहते होंगे ?

अध्यापक – हाँ ! जब उनसे उन्हें लाभ या हानि नहीं है, तब फिर वे उनसे रति या अरति क्यों करेंगे ? वे एकमात्र अपने आत्मा से ही रति करते हैं, उसमें ही लीन रहकर परमसुख का वेदन करते हैं। उनके 22 परीषहों में अरति नामक भी एक परीषह होता है। और

वे उससे प्रभावित हुए बिना उसे जीत लेते हैं; इसीलिए अरति परीषहजयी होते हैं, क्योंकि वे जानते हैं –

जड़–चेतन की सब परिणति प्रभु अपने–अपने में होती है।
अनुकूल कहे प्रतिकूल कहे यह झूठी मन की वृत्ति है।।

अत: वीतरागी दिगम्बर संत सदा समतारस में ही तृप्त रहते हैं। कहा भी है –

करते तप शैल नदी तट पर तरुतल वर्षा की झड़ियों में।
समतारस पान किया करते सुख–दुख दोनों की घड़ियों में।।

नरेन्द्र – अच्छा! इसीलिए वे जैन साधु जंगल में श्मशान के पास भी परमशांत मुद्रा सहित अपने ही आनंद में मग्न बैठे थे और मैं उन्हें पागल समझ रहा था, वास्तव में तो मैं ही पागल था।

अध्यापक – पागल होना भी कोई बुरी बात नहीं है, पर सही अर्थों में पागल होना चाहिए।

नरेन्द्र – क्या मतलब सर!

अध्यापक – जो पापों को गलावे और सच्चा सुख प्रगट करे, सच्चे अर्थों में वही पागल है।

(दोनों छात्र एक साथ) वाह सर! आज तो आनंद आ गया।

अध्यापक – अरे भाई! आनंद तो अपने में है। पर में या पर से आनंद की कल्पना तो मात्र भ्रांति है। जैसे जगत के भोगी जीव स्त्री आदि में मजा मानते हैं, पर उनमें मजा है या सजा है?

नरेन्द्र – सर! आप ही बताइए ?

अध्यापक – यदि यह जानना चाहते हैं तो कल ज्ञानशाला में आना, वहाँ महावीराष्टक की चर्चा चल रही है, उसके 7वे छन्द के आधार पर स्त्रीपरीषहजयी मुनिराजों के बारे में विशेष चर्चा होगी।

बोलो, अरतिपरीषहजयी महामुनिराजों की जय हो।

8. स्त्री परीषहजय

मंगलाचरण

स्वानुभूति रमणी में तृप्त, करे न नारी चित संतप्त।
ब्रह्मचर्य से चिगें न लेश, परमधीर मुनिवर जगतेश॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं – कोई साधु एकान्त पर्वत-गुफा आदि में तपश्चर्या या स्वाध्याय आदि कर रहे हों, ऐसी हालत में यदि कोई युवती आकर उन्हें फुसलाने लगे, उनके अवयवों से क्रीड़ा करना चाहे तो भी सुगुप्त रहना, मन को अपने काबू में रखना स्त्री परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं – देव, मनुष्य, तिर्यंच समस्त संसारी जीव स्त्री के प्रति राग से सुख मानते हैं और उनके साथ हास्य, रति, केलि, कौतूहलादि करके आनन्द मानते हैं; किन्तु मुनिराज ने तो कामिनी का संग ऐसे त्याग दिया है, जैसे सज्जनपुरुष दुर्जन का साथ छोड़ देते हैं। स्त्री के शरीर को महामलिन, दुर्गति का कारण जानकर उससे कभी अनुराग नहीं करते। सुन्दर रमणियों के मिष्ट वचन सुनकर भी, हाव-भाव-विलास-विभ्रम-कौतुक की क्रियाओं को देखकर भी किंचित् मात्र भी विचलित नहीं होते। अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्वात्मध्यान में लीन रहते हैं अर्थात् सकल विभावपरिणति को छोड़कर अपनी ज्ञानानन्दरूप स्वभावपरिणति में ही रमण करते हैं। इसप्रकार स्त्री परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

> स्त्री परीषहजयी साधु बगीचा और भवन आदि एकान्त स्थानों में नवयोवन और मदिरावान से प्रमत्त हुई स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुँचाने पर कछुए के समान जो इन्द्रिय और हृदय के बहिर्मुखी उपयोग को अपने में समेट लेते हैं, उनके स्त्री परीषहजय होता है। **– सर्वार्थसिद्धि 9/9**

स्त्री परीषहजय वार्ता

गुरूजी – बालको ! आज हमें कविवर भागचंदजी विरचित महावीराष्टक का 7वा छन्द पढ़ना है। जो इसप्रकार है –

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः,
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः।
स्फुरन्नित्यानंदप्रशमपदराज्याय स जिनः
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे (नः) ।।

जिसने तीनों लोकों को जीत लिया है और अनिर्वार है वेग जिसका – ऐसे कामरूपी सुभट को जिन्होंने अपने आत्मबल से कुमार अवस्था में ही जीत लिया है, परिणामस्वरूप जिनके अनंतशक्ति का साम्राज्य एवं शाश्वत सुख स्फुरायमान हो रहा है, वे भगवान महावीर स्वामी मेरे (हमारे) नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे मार्गदर्शन दें।

जिनेन्द्र – गुरूजी ! श्रीमहावीरस्वामी ने कुमारावस्था में ही कामसुभट को जीत लिया था तो क्या उन्होंने शादी नहीं की थी।

गुरूजी – नहीं, वे बालब्रह्मचारी थे। यद्यपि सारा जगत स्त्री के साथ ही रहना पसंद करता है, स्त्री संग करना सभी जीवों को अच्छा लगता है। चार प्रकार की संज्ञा में मैथुन संज्ञा का वर्णन आता है। चारों गतियों के समस्त प्राणी स्पर्शन इन्द्रिय के विषय सेवन हेतु बुद्धिपूर्वक उपाय करते हैं।

जिनदेव, जिनगुरू और सप्तम से ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकों को छोड़कर जगत के जितने भी जीव हैं वे सभी स्पर्शन इन्द्रिय के दास हैं। यहाँ तक कि वीतरागी जिनेन्द्र एवं वीतरागी संतों को छोड़कर जगत में जितने भी देवता कहलाते हैं वे सभी अपनी-अपनी देवियों के साथ रमते हैं। शंकर पार्वती के साथ, विष्णु लक्ष्मी के

साथ, ब्रह्मा सरस्वती के साथ, कृष्ण राधा के साथ, राम सीता के साथ इत्यादि कोई भी हो, बिना स्त्री के सभी अपने को अधूरा व दुखी अनुभव करते हैं, और उसका साथ करके सुखी होना चाहते हैं। कामादिक से उन्मत्त जैसी दशा हो जाती है, फिर भी कैसे भी हो उसकी पूर्ति करने हेतु अपने को बड़े से बड़े कष्ट में डाल देते हैं। वर्तमान में तो अपनी शक्ति को बर्बाद करते ही हैं, आगामी भव में भी दुर्गति को प्राप्त कर दुख भोगते हैं।

नरेन्द्र – गुरूजी ! मुनीश्वर तो जंगल या उद्यान आदि में वास करते हैं, वहाँ जब तिर्यंचादिक खुले में काम सेवनादिक करते होंगे या बाग में कोई कामी जीव आकर कुचेष्टाएँ करते होंगे, क्या तब भी उन्हें विकार नहीं होता ?

गुरूजी – नहीं, शास्त्रों में ऐसा आता है कि –'वे ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारी होते हैं। वन खण्डादिक में वास करते हैं, जहाँ तिर्यंचादिक खुले में काम सेवनादिक करते हैं, तो भी वे विकाररूप नहीं होते; यहाँ तक कि एकान्त बाग में धन, यौवन, मद, विभ्रम,

मदिरापान आदि से प्रमत्त हुई स्त्री आकर बाधा करे तो कछुये की तरह वे इन्द्रिय-मन के विकार को संकोच लेते हैं अर्थात् उत्पन्न ही नहीं होने देते। ललित मंद हास्य, कोमल मधुर कामचेष्टा के वचन, विलास सहित देखना, हँसना, मंदरूप से मंथर गमन करने रूप काम के बाणों को जो विफल करदे, ऐसे चारित्र को धारण करनेवाले दिगम्बर मुनिराजों के स्त्री परीषहजय होता है।

भव्यप्रमोद में जिनदेव का वर्णन करते हुए लिखा है -

वीरन में वीर है प्रसिद्ध कामदेव वीर,
जाने जगवीरों को अधीर कर डारा है।
ब्रह्मा और विष्णु शिव शंकर गणेश शेष,
माधव महेश सुर सुरेश को पछारा है।।
हलधर चक्रधर गदा ओ त्रिशूल धर
पुष्पसर वाले ने सभी को ललकारा है।
विश्वामित्र पारासर आदि ऋषि वश किये,
ऐसो कामदेव जिनदेव ने ही मारा है।।

नरेन्द्र - गुरूजी ! महावीरस्वामी के अलावा ऐसा दृढ़ ब्रह्मचर्यधारी और भी कोई महापुरुष हुआ है क्या ?

गुरूजी - हाँ ! क्यों नहीं ? प्रथमानुयोग में ऐसे एक क्या अनेक महापुरुषों की कथायें आती हैं।

सुरेन्द्र - एकाध सुनाओ न।

गुरूजी - सेठ सुदर्शन का नाम इसमें प्रसिद्ध है।

नरेन्द्र - थोड़ा विस्तार से बताओ न।

गुरूजी - सुनो ! राजगृही नगरी में राजा दृढ़रथ राज्य करते थे। उसकी रानी ने एक दिन उसी नगर में दृढ़शीलव्रत के धनी सेठ सुदर्शन को छल से अपने राजमहल में दासी द्वारा श्मशान से उठवा लिया।

सुरेन्द्र – श्मशान से ?

गुरूजी – हाँ ! क्योंकि सेठ सुदर्शन प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशी के दिन श्मशान में जाकर एकाकी ध्यान लगाया करते थे। उस समय वे वस्त्रों में भी मात्र एक लंगोट ही धारण करते थे।

नरेन्द्र – फिर क्या हुआ गुरूजी !

गुरूजी – रानी ने पूरी रात्रि उनके साथ अनेकों कुचेष्टायें की, फिर भी सेठजी तो टस से मस नहीं हुए।

सुरेन्द्र ऐसा कैसे सम्भव है ?

जामें आतमशक्ति है क्या कर सके निमित्त।
रानी नहीं डिगा सकी सेठ सुदर्शन चित्त।।

नरेन्द्र – उदाहरण आगम का है, अत: शंका तो नहीं करता, पर पूरी तरह विश्वास भी नहीं होता कि यह कैसे हो सकता है ?

गुरूजी – हम विषयानुरागियों को ऐसा ही लगता है, पर जिन्हें निज ध्रुव आत्मा का अवलम्बन होता है, उन्हें इसमें कोई आश्चर्य नहीं होता। ब्र. रवीन्द्रजी 'आत्मन्' ने कहा भी है -

ध्रुव का अवलम्बन जिनके, विचलित नहिं होते जग में।
उपसर्ग परीषह आवें, पर सतत बढ़ें शिवमग में।।
है आत्मज्ञान की महिमा, हो अद्‌भुत समता धारी।
उनकी गरिमा वर्णन में, इन्द्रों की बुद्धि हारी।।
जिनकी पावन दृढ़ता से, कुटिला नारी भी हारी।।

नरेन्द्र – फिर क्या हुआ ?

अन्त में जब रानी अपनी कुत्सित भावना पूर्ण करने में सफल नहीं हुई, तब तिरिया चरित्र बताते हुए अपने ही हाथों से अपने वस्त्र फाड़ लिए एवं अपने ही नाखूनों से अपना बदन खरोंच लिया और बचाओ-बचाओ चिल्लाकर भीड़ इकट्ठी कर ली। जब राजा ने यह

सब प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा, तब आगे-पीछे सोचे समझे बिना सीधा सेठ सुदर्शन को फाँसी की सजा सुना दी।

नरेन्द्र – अरे ! यह तो बड़ा बुरा हुआ।

गुरूजी – अरे भाई ! इसमें अच्छा-बुरा देखना तो हमारे जैसे निमित्ताधीन दृष्टि वालों का काम है, सो भी उचित नहीं है। मालूम है सेठ सुदर्शन ने क्या किया ?

सुरेन्द्र – क्या किया गुरूजी ?

गुरूजी – वे तो इसे उपसर्ग जानकर समाधि की भावना भाने लगे। पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर, आत्मा के अजर-अमर स्वरूप का चिंतन करने लगे। वे तो चारों प्रकार के आहार का त्याग कर यही भावना भा रहे थे कि यदि यह उपसर्ग टला तो जैनेश्वरी दिगम्बर दीक्षा धारण कर मुक्ति लक्ष्मी का वरण करूँगा, अन्यथा जो भवितव्य में होगा सो होगा ही।

नरेन्द्र – आगे क्या हुआ ?

गुरूजी – होना क्या था, शूलीघर ले जाकर ज्यों ही उन्हें फाँसी दी गई, त्यों ही फाँसी का तख्ता सिंहासन हो गया, तलवार का प्रहार फूलमाला में बदल गया। यह सब देखकर सेठजी की जय-जयकार से आकाश गूँज उठा। राजा ने क्षमा माँगी और रानी तथा दूती को देश से निष्कासित कर दिया।

सेठ सुदर्शन ने दिगम्बरी दीक्षा ले ली और विहार करते हुए एकबार पटना नगरी पहुँचे, वहाँ भी छल से एक वेश्या ने इसीप्रकार का 3 दिन तक भयंकर उपसर्ग किया, पर अंत में हारकर वापस श्मशान में छोड़ आई, जहाँ सेठ सुदर्शन को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई और वहीं से उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

बोलो ! स्त्री परीषहजयी सेठ सुदर्शन की जय! सुदर्शन मुनिराज की जय! सुदर्शन भगवान की जय!

नरेन्द्र – गुरूजी ! ऐसी ही एक कथा हमारी माताजी ने भी हमें सुनाई थी, जो शादीशुदा बालब्रह्मचारी जम्बूस्वामी की थी, हमें वह सुनकर बहुत अच्छा लगता है।

सुरेन्द्र – मैंने नहीं सुनी, उनकी कथा भी सुनाओ न ?

गुरूजी – सुनो, जम्बूस्वामी एक श्रेष्ठीपुत्र थे, जिनकी चार श्रेष्ठीपुत्रियों से उनके माता-पिता ने शादी तय कर दी। पर जब जम्बूस्वामी ने शादी से इंकार कर दिया तब माँ ने यह कहकर उन्हें शादी के लिए राजी कर लिया कि मुझे तो बहुओं को देखना है भले ही तुम शादी के दूसरे दिन ही दीक्षा ले लेना।

सुरेन्द्र – फिर तो वे शादी करके स्त्रियों के जाल में फंस गये होंगे ?

गुरूजी – नहीं, उनकी वह विवाह की प्रथम रात्रि ही अन्तिम रात्रि बनकर रह गई। देवांगनाओं सी चारों पत्नियों ने उन्हें अपने वाग्विलास एवं हाव-भाव से समझाने की अथक् कोशिश की, परन्तु विरक्तचित्त तद्भव मोक्षगामी जम्बूस्वामी को समझा न सकीं। जम्बूस्वामी का वैराग्य जीत गया रानियों का राग हार गया। प्रात: सभी ने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर मोक्षमार्ग में प्रयाण किया।

नरेन्द्र – जब गृहस्थ दशा में ही इतनी दृढ़ता हो सकती है, तब फिर मुनिराजों की तो बात अद्भुत ही होगी।

गुरूजी – क्यों नहीं, उन्हें तो स्वर्गों की रम्भा भी खम्बा भासित होती है। वे यह जानते हैं कि वास्तव में छह द्रव्यों में नारी नाम का तो कोई द्रव्य है नहीं। मुनिराज के तो उत्कृष्ट रूप से 18000 प्रकार के शील होता है। गृहस्थ अवस्था में जिसके लिए

युद्ध किया हो मुनि अवस्था में वह साक्षात् अवतरित हो जाये तो भी आँख उठाकर नहीं देखते, बल्कि उतनी ही उग्रता से मुक्ति को पाने का पुरुषार्थ प्रगट करते हैं और अल्पसमय में मोक्षलक्ष्मी का वरण कर, बाह्य स्त्री को सदा-सदा के लिए छोड़ देते हैं।

सुरेन्द्र – क्या ऐसी भी कोई कथा आती है ?

गुरूजी – क्यों नहीं, जो रामचंद्रजी रावण द्वारा सीता का हरण हो जाने पर पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों, मधुकरों, नदी-पर्वतों से मेरी सीता देखी क्या ?-ऐसा पूछते फिरते थे, कहा भी है- **हे खग ! हे मृग ! मधुकर श्रेणी, तुम देखी सीता मृग नैनी।** वे ही रामचंद्रजी जब जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर तपस्या में लीन थे तब सीता के जीव प्रतीन्द्र ने साक्षात् सीता का रूप धारण कर उन्हें विचलित करने की अथक् कोशिश की थी, पर रामचंद्रजी विचलित नहीं हुए; क्योंकि उनकी दृष्टि तो अपनी चैतन्य परिणति रूपी सीता को पाने में संलग्न थी, उन्हें जनकनंदिनी सीता की ओर आँख उठाकर देखने का विकल्प भी नहीं रहा था।

नरेन्द्र – गुरूजी ! वे तो महापुरुष थे, हम जैसे साधारण जीवों को तो यह साधना करना बहुत कठिन है।

गुरूजी – ऐसी बात नहीं है, **पर में या पर से सुखबुद्धि की हमारी मिथ्या मान्यता ही हमें इस भ्रम में रखती है और हम पर की ओर आकर्षित हो जाते हैं।** सर्वप्रथम यह मिथ्या भ्रमणा मिटनी चाहिए, फिर कुछ कठिन नहीं लगेगा।

नरेन्द्र – गुरूजी ! आपके कृपा से आज हमें स्त्री परीषहजयी महामुनिराजों का स्वरूप भलीप्रकार समझ में आ गया, अत: आपका बहुत-बहुत आभार।

बोलो, स्त्री परीषहजयी महामुनिराजों की जय हो।

9-11 चर्या, शय्या, निषद्या परीषहजय

मंगलाचरण

अनियत वासी करैं विहार, ईर्या समिति सहित अविकार।
चर्या परीषह सों नहिं डरें, मुक्ति मार्ग जग में विस्तरें॥
भूमि काष्ठ पाषाण पै सोवें, सावधान नहिं गाफिल होवें।
निद्रा अल्प न करवट फेरें, अन्तर्मुख हो निजपद हेरें॥
अंतर समता से नहिं चिगें, बाहर आसन से नहिं डिगें।
धनि मर्यादा पालन-हार, धर्मतीर्थ विस्तारन-हार॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं -

चर्या परीषहजय - देशान्तर में धर्म हेतु पर्यटन करते हुए चर्या सम्बन्धी बाधाओं को समतापूर्वक सह लेना, उनका मन में विकल्प न होना चर्या परीषहजय है।

शयन परीषहजय - नीची-ऊँची और कठोर, किन्तु निर्दोष भूमि के मिलने पर रात्रि के उत्तरार्द्ध में उस पर एक करबट से किञ्चित् निद्रा लेते समय भूमिजन्य बाधा को शान्ति से सह लेना और उसका विकल्प मन में नहीं लाना शय्या परीषहजय है।

निषद्या परीषह - वीरासन, उत्कुटिकासन आदि विविध प्रकार के आसनों को लगाकर ध्यान करते हुए यदि तन्निमित्तक किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न हो तो उसे समतापूर्वक सह लेना, उसका मन में किसी प्रकार का विकल्प न होना निषद्या परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं -

चर्या परीषहजय - संसारी जीव हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी आदि सवारी पर सुहावने समय में भी चढ़कर गमन करने में खेद मानते हैं तथा तिर्यञ्च भी गमन करने में दुःखी होते हैं, परन्तु मुनिमहाराज

चलते समय ईर्यापथ शोधते हुए चलते हैं।

ग्रीष्मऋतु में दशों दिशायें तप्तायमान हो जाती हैं और मार्ग में कंकड़, पत्थर कण्टकादि चुभते हैं तो भी किंचित् खेद नहीं मानते। इसप्रकार महामुनिराज चर्या परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

शय्या परीषहजय – जगत के जीव विषयाभिलाषी होकर कोमल शय्या पर सोने का अनुराग रखते हैं; परन्तु योगीश्वर मुनिराज स्वर्ण-रत्नादिक के महल तथा सुन्दर शय्यादिक का त्यागकर वनवासी होकर कंकरीली विषमभूमि में रात्रि के पिछले पहर में एकासन से थोड़ी-सी निद्रा लेते हैं। वहाँ अपने क्षीण शरीर में कंकड़ आदि चुभते हैं, उनसे दुखी नहीं होते; परन्तु ऐसी भावना भाते हैं कि हे जीव! तूने नरक की तीव्र वेदना अनन्त बार सहन की है, उसके समान अन्य कोई विषम भूमि नहीं है। यह भूमि तो कुछ भी विषम नहीं है कि जिसका तू व्यर्थ में खेद करता है।

अब तो तूने त्रैलोक्य पूज्य जिनमुद्रा धारण की है। तू मोक्षार्थी ही है और इस भवसमुद्र से पार होकर निर्वाण द्वीप को जाना चाहता है। अतः मोहरूपी निद्रा को जीतकर योग में आरूढ़ हो। सदा जागृत रहकर अपने स्वरूप में मग्न हो। शय्या परीषह की बाधा से चित्त में अस्थिरता मत आने दे। इस तरह विचारते हुए मुनिराज शय्या परीषह सहन करते हैं – यह शय्या परीषह का जीतना है।

निषद्या परीषह – संसार के समस्त जीव उत्तम मनोज्ञ स्थान में बैठकर सुख मनाते हैं; परन्तु (मुनिराज पहले राज्यादिक पदवी में कंचन रत्नादिक के महलों में विलास करते थे, उन्होंने अब स्वरूप को पहचानकर निश्चय से अपना स्थान अपने में ही जान लिया है।) मुनिराज सकल परिग्रह का त्याग करके महा निर्जन वन में जहाँ सिंहादिक अनेक क्रूर वनचर जीव रहते हैं, वहाँ पर्वत की गुफाओं में, शिखरों पर अथवा श्मशान भूमि में निवास करते हैं।

उन विषम स्थानों में भी अनेक व्यन्तरादिक विविध प्रकार के उपसर्ग करते हैं तो भी वे महाधीर रंचमात्र भी दुःख नहीं मानते और उस स्थान को नहीं छोड़ते - इसप्रकार निषद्या परीषह को जीतते हैं।

तात्पर्य - गमन/विहार सम्बन्धी प्राकृतिक-अप्राकृतिक बाधाओं के आने पर भी समता रखना, स्वरूप साधना के कार्य से च्युत नहीं होना - **चर्या परीषहजय है।** तथा सोने के स्थान में कष्ट होने पर भी उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र सुखदायी स्थान पर जाने का भाव न आकर उसी स्थान पर रहते हुए समता रखना और अपने मोक्ष की साधना रूप कार्य से च्युत नहीं होना - **शय्या परीषहजय है।** और स्वयं द्वारा किये गये आसन के संकल्प से नहीं डिगना - **निषद्या परीषहजय है।**

9-11 चर्या, शय्या, निषद्या परीषहजय वार्ता

पराधीन – मित्र ! एक बात बताओ ? नग्न दिगम्बर मुनिराजों को वन जंगल में विहार करते हुए, रहते हुए, सोते हुए, आराम करते हुए, ध्यान में बैठे हुए प्राकृतिक-अप्राकृतिक आपदाओं से डर नहीं लगता ?

स्वाधीन– निजस्वरूप में विहार करनेवाले, निज में ही रहनेवाले, निज में ही विश्राम करनेवाले, निज के ही ध्यान में बैठनेवाले वीतरागता के धनी महामुनिराजों को डर कैसा ? तथा किसका ?

पराधीन – अरे ! आप मेरी बात समझे नहीं, आप तो शास्त्रों में लिखी हुई बातों को ही बताने लगे –ये तो मैंने भी पढ़ी व सुनी हैं।

स्वाधीन– शास्त्रों की बातें कोई झूठ थोड़े ही हैं।

पराधीन – हाँ-हाँ ! वे तो सब सही हैं, पर मेरी समझ में यह नहीं आ रहा है कि वन जंगल में रहने, चलने-फिरने व सोने-बैठने में जो

परेशानियाँ होती हैं – क्या मुनिराजों को उनसे कोई कष्ट नहीं होता होगा?

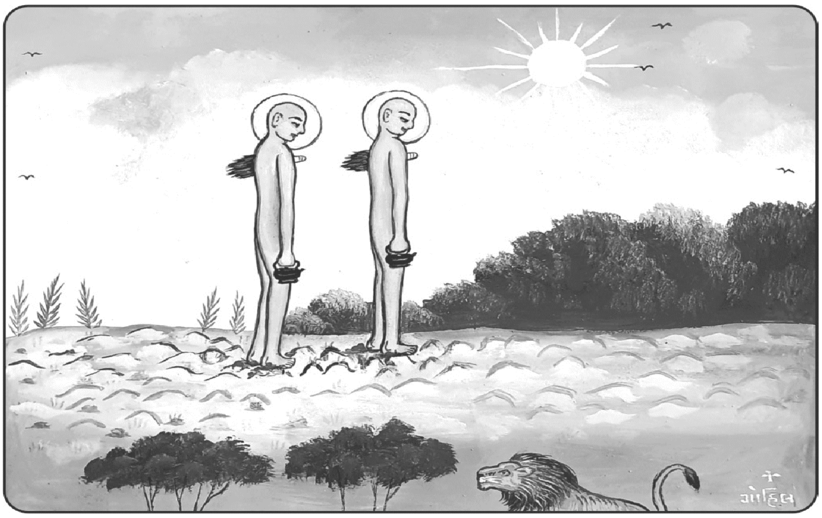

स्वाधीन– अरे ! कष्ट काहे का ? तुम क्या सोचते हो, जरा खुलकर बताओ न ?

पराधीन – हाँ ! हाँ ! क्यों नहीं ? सुनो, जैसे– मुनिराज वाहन में तो चलते नहीं हैं, पैर में जूता–चप्पल पहनते नहीं हैं, मार्ग में कंकड़, पत्थर, धूल, काँच, काँटे और फिर गर्मी में तपती भूमि एवं शिलायें, सर्दी में नदी झरनों को छूकर आने वाली ठण्डी–ठण्डी हवायें – क्या इन सबसे उन्हें दुख नहीं होता होगा?

स्वाधीन– वाह मित्र वाह। अरे ! ये सब कष्ट तो देहाश्रित हैं, जो देहातीत आत्मा के अनुभव में सदा आनंदित रहते हों, उन्हें देहजनित कष्ट से परेशानी या दुख क्यों होगा ?

पराधीन – हमें होता है, उन्हें नहीं होता – यह बात कुछ समझ में नहीं आई।

स्वाधीन– आयेगी भी कैसे ? हमारी बर्हिदृष्टि जो है। पर यदि समझना चाहोगे तो अवश्य समझ में आयेगी।

पराधीन – समझने के लिए ही तो पूछ रहा हूँ।

स्वाधीन– तो सुनो, आपके जीवन में कभी ऐसा प्रसंग बना कि जब आप धन्धे व्यापार के किसी कार्य को अत्यन्त एकाग्र होकर कर रहे हों और उस कार्य को करते हुए आपको कोई चोट लग गई हो, तो आपको उस वक्त उस चोट का दुख होता है या नहीं ?

पराधीन – उस समय तो नहीं होता। पर बाद में ......

स्वाधीन– इसका क्या मतलब ? क्या बाद में चोट बढ़ जाती है या उसमें दर्द के परमाणु आ जाते हैं?

पराधीन – अरे नहीं ! ऐसी बात नहीं है। काम के समय उस पर ध्यान नहीं था, बाद में ध्यान गया। तब...

स्वाधीन– तो फिर इसका अर्थ यह हुआ कि दुख चोट लगने से नहीं होता, दुख तो उस पर ध्यान जाने से होता है।

पराधीन – हाँ ! बात तो तुम ठीक कह रहे हो, पर चोट लगी, तभी तो ध्यान गया, लगती ही नहीं तो ध्यान किस पर जाता ?

स्वाधीन– नहीं भाई ! ऐसी बात नहीं है। चोट तो काम के समय भी लगी थी, पर उस समय तो ध्यान नहीं गया।

पराधीन – उस समय तो ध्यान काम पर था।

स्वाधीन– बस ! यही तो जिनवाणी माँ हमें बता रही है और उदाहरणस्वरूप परीषह-उपसर्गजयी मुनिराजों की अनेक कथायें प्रथमानुयोग के माध्यम से जता रही हैं।

पराधीन – आप तो फिर प्रवचन करने लगे, मेरे प्रश्न का उत्तर तो दीजिए ?

स्वाधीन– भाई ! प्रवचन कोई बुरी वस्तु नहीं है। उत्कृष्ट वचनों को प्रवचन कहा जाता है। तीर्थंकर देव की वाणी, दिव्यवाणी/ दिव्यध्वनि ही वास्तव में सही मायने में प्रवचन है। मुनिराजों, ज्ञानी

विद्वानों द्वारा भी उनकी वाणी का ही मर्म बताया जाता है, अतः उन्हें भी प्रवचन कहा जाता है। खैर......

पराधीन – मेरी शंका का समाधान भी तो कर दीजिए।

स्वाधीन– अवश्य, सारा का सारा कमाल उस ओर जुड़ान होने और नहीं होने का है। इसी तरह जब मुनिराजों का ध्यान एकमात्र देहातीत विकल्पातीत निज चैतन्यतत्त्व की ओर होता है, तब उनका ध्यान भी देह में होने वाले दुख-सुख की ओर नहीं जाता। उस समय उनकी दशा एक शिला के समान होती है। इसीलिए, तो छहढ़ाला में कहा है कि –

अरि मित्र महल मसान कंचन कांच निंदन थुति करन।
अर्घावतारन असि प्रहारन में सदा समता धरन।।

वहीं और भी कहा है –

तिन सुथिर मुद्रा देख मृग-गण उपल खाज खुजावते।

पराधीन – पर काम पूरा होने पर जैसे हमारा ध्यान चोट के दर्द पर आता है, इसी प्रकार...

स्वाधीन– बात तो तुम्हारी सही है, पर प्रथमतः तो मुनिराजों का ध्यान जाता ही नहीं है, क्योंकि उनका काम तो तभी पूरा हुआ कहलाता है, जब वे क्षपकश्रेणी मांडकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। और यदि किंचित् जाता भी है तो वे पुनः अपने ध्यान को वहाँ से हटाकर अपने स्वरूप संबोधन या स्वसंवेदन में स्थिर कर लेते हैं।

पराधीन – फिर किंचित् ही सही, ध्यान जाने पर तो दुख होता ही होगा?

स्वाधीन– ठीक है, उतना विकल्प का दुख होता भी है, परन्तु वह तो पानी पर खींची रेखा के समान शीघ्र ही मिट जाता है और

वे भी बुद्धिपूर्वक अपने स्वरूपानुभव में मग्न हो जाते हैं। इसी का नाम तो 22 परीषहों में 'चर्या परीषहजय' है।

पराधीन – इसका अर्थ तो यह हुआ कि उन्हें परकृत या देहकृत दुख अनुभव में ही नहीं आता। वे तो चिदानंदघन के अनुभव से सहजानंद में ही मग्न रहते हैं।

स्वाधीन– तुम बिल्कुल ठीक समझे। हम भी पर में अपनापन करना छोड़कर अपने में अपनापन करेंगे तो एक दिन हमारी भी ऐसी दशा हो सकेगी। हमें इसकी निरन्तर भावना भाना चाहिए और शरीर तथा संयोगों से भेदविज्ञान करते हुए अपने निज चैतन्यतत्त्व को ही अपना समझते हुए अपने शेष जीवन को सार्थक करना चाहिए।

पराधीन – आपका बहुत-बहुत धन्यवाद ! आपकी इजाजत हो तो मैं इसी संदर्भ में अपनी एक-दो शंकाओं को और निर्मूल करना चाहता हूँ।

स्वाधीन– अरे ! इसमें इजाजत की क्या बात है, साधर्मियों को तो परस्पर तत्त्वचर्चा ही चाहिए। बोलो-बोलो, खुलकर बोलो।

पराधीन – धन्यवाद! आपने परीषह की बात कही तो मुझे शय्या और निषद्या परीषहजय के बारे में भी समझने की जिज्ञासा है।

स्वाधीन– उनमें क्या समझना है, उनमें भी तो यही नियम लागू पड़ता है।

पराधीन – फिर भी आपके समझाने से खुलकर समझ में आ जाता है। जैसे-शास्त्रों में शय्या परीषह के संबंध में कहा है कि 'मुनिराज रात्रि के अंतिमप्रहर में एक करवट से कठोर, ऊबड़-खाबड़, कंकरीली-प्रासुक जमीन पर डण्डे या मृतक की भांति सोते हैं।'

स्वाधीन– ठीक तो है, इसमें तुम्हारा प्रश्न क्या है?

पराधीन – प्रश्न तो इतना ही है कि यदि वे किसी कोमल या

विस्तृत शय्या पर सो जायें तो इसमें परेशानी क्या है? वैसे भी थोड़े समय को ही तो सोना है।

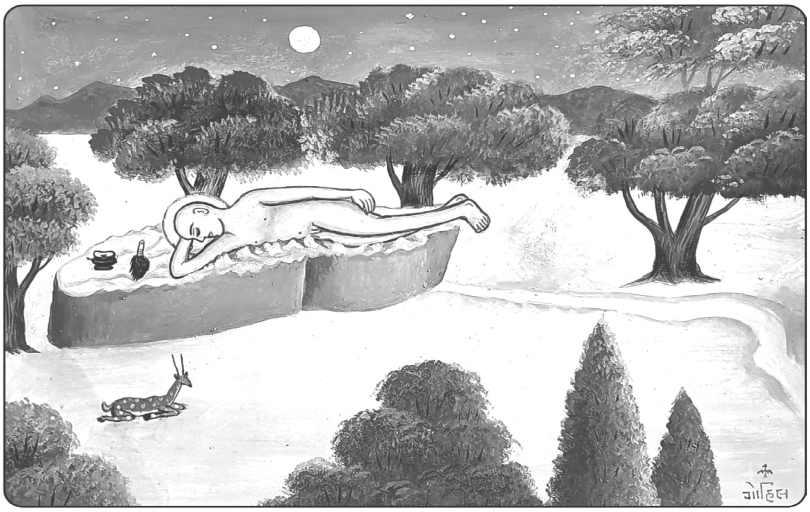

स्वाधीन– बात तो तुम ठीक कहते हो। पर भाई ! प्रथम तो निद्रा लेना अपने को जड़ समान करने जैसा है, दूसरे सोने से देह को ही आराम मिलता है, आत्मा को नहीं। तीसरे यह तो तुम जानते ही हो कि मुनिराज अहिंसा आदि महाव्रतों के धारी होते हैं, जब वे कहीं बैठते या उठते हैं, या शास्त्र, कमण्डलु उठाते या धरते हैं, तब भी स्वनिस्रित (स्वयमेव निकले हुए) मयूरपंख की पीछी से उस स्थान या वस्तु का परिमार्जन करके ही उक्त व्यवहार करते हैं। शरीर का परिमार्जन करके ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं। तब फिर ऐसी पापकारी निद्रा को लेने के लिए वे करवट आदि लेकर दूसरे जीवों के घात में निमित्त कैसे हो सकते हैं?

पराधीन – दूसरे जीवों की रक्षा हेतु उनकी इसप्रकार की शय्या की बात तो समझ में आई, पर कम से कम स्थान तो ऐसा हो ही सकता है, जिस पर वे अच्छी तरह लेट सकें।

स्वाधीन– अरे ! सोने के लिए अनुकूल स्थान खोजने में वे अपना उपयोग बरबाद नहीं करते; क्योंकि उनका उद्देश्य शरीर या शरीर को सुख देना नहीं है, उनका उद्देश्य तो एक मात्र अपने आत्मा की आराधना में लगना है। जब शरीर शिथिल हो जाता है तब जहाँ बैठे हों वहीं थोड़ा सा एक करवट लेटकर आराम कर लेते हैं। वह भी रात्रि के अन्तिम प्रहर में।

पराधीन – तो क्या वे दिन में सोते ही नहीं हैं?

स्वाधीन– अरे भाई ! दिन में तो क्या? वास्तव में तो वे रात्रि में भी नहीं सोते। जैसे जब हमारे ऊपर भी कार्य की जिम्मेदारी होती है तब हम भी कहाँ सोते हैं? जिस कुर्सी पर बैठे होते हैं, वहीं थोड़ी देर आँख बंद कर शरीर को शिथिल छोड़कर झपकी ले लेते हैं। वैसे ही मुनिराज भी अपने स्वरूप की साधना के कार्य में इतने अधिक तल्लीन होते हैं कि उन्हें सोने का विकल्प ही नहीं आता है। जब शरीर थक जाता है तो जहाँ बैठे होते हैं, वहीं पीछी से परिमार्जन करके अन्तर्मुहूर्त मात्र एक करवट से आराम कर लेते हैं फिर चाहे जगह कम हो या कंकरीली हो। इसी को तो शय्या परीषहजय कहते हैं।

पराधीन – ठीक है, पर वे जहाँ ध्यान आदि में बैठते हैं, वह स्थान निर्विघ्न हो – इस बात का ध्यान रखें तो साधना-आराधना निर्विघ्न हो सकती है। इसमें क्या परेशानी है?

स्वाधीन– हम शरीर को अपना मानते हैं, उसी से अपना जीवन मानते हैं, अतः हमारी सोच का केन्द्र बिन्दु शरीर तक ही सीमित रहता है, इसीलिए हमें ऐसे प्रश्न उठते हैं।

पराधीन – शरीर की सँभाल तो मुनिराजों को भी रखना चाहिए?

स्वाधीन– वे शरीर की स्थिति हेतु आहार को जाते हैं, पर भाई! यह नहीं भूलना चाहिए कि वे आहार भी शरीर के लिए नहीं,

आत्मसाधना के लिए करते हैं। कहा भी है– **''लें तप बढ़ावन हेतु नहिं तन पोषते तजि रसन को।''**

पराधीन – तब फिर क्या वे शरीर के बारे में कुछ भी नहीं सोचते?

स्वाधीन– उन्हें शरीर के बारे में सोचने की फुर्सत ही कहाँ है? और जब वे यह जानते हैं कि शरीर का परिणमन हमारे अनुसार होता ही नहीं है, तब फिर उसके बारे में सोचकर वे अपने उपयोग को बर्बाद क्यों करें?

पराधीन – जंगल में सिंह, बाघ, शार्दूल, भालू, सांप, बिच्छू आदि हिंसक एवं विषैले जानवर होते हैं, भूत, प्रेत आदि जीवों का संचार होता है, उनके द्वारा अनेक प्रकार की बाधायें होती हैं। अतः इनसे बचते हुए निर्बाध स्थान पर ध्यान में बैठना चाहिए। जबकि 'निषद्या परीषह में ऐसा आता है कि भयानक से भयानक स्थिति आने पर भी स्वयं द्वारा किये गये आसन संकल्प से वे मुनिवर डिगते नहीं है। अपने ध्यान से विचलित नहीं होते, भले ही देह का कुछ भी हो जाये।'

स्वाधीन– भाई, विचार करो ! जंगल में, पहाड़ पर, वृक्ष की कोटर में, श्मशान भूमि में ही विघ्न बाधायें आती हों – यह तो जरूरी नहीं है। विघ्न बाधायें तो पाप के उदय में आती है। दृढ़ता और लगन के धनी मुनिराजों के जीवन में ये उदय तो और मजबूती प्रदान करते हैं। क्या तुमने देशभूषण-कुलभूषण मुनिराज की कथा नहीं सुनी, वे जब वंशस्थल पर्वत पर ध्यानमग्न थे, तब उनके पूर्वभव के बैरी ने उन पर घोर उपसर्ग किया था और वे ध्यान से चलित न हुए और उन्हें केवलज्ञान हो गया।

पराधीन – फिर भी......

स्वाधीन– फिर भी क्या ? महामुनिराजों की तो यह सोच होती है कि देह का भले ही कुछ भी हो, पर उपयोग आत्मा से च्युत नहीं होना चाहिए।

समयसार गाथा 209 में कहा है कि-

छिद जाय या ले जाय कोइ अथवा प्रलय को प्राप्त हो।
जावे चला चाहे जहाँ पर परिग्रह मेरा नहीं।।

पराधीन – परिग्रह तो वे पहले ही छोड़ आये, अब परिग्रह की बात ही कहाँ रही?

स्वाधीन– यद्यपि उनके मिथ्यात्व नामक अंतरंग परिग्रह सहित दस प्रकार के बहिरंग परिग्रहों का सर्वथा त्याग हो गया है। साथ ही अंतरंग परिग्रहों में अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ का भी अभाव हो गया है तथापि अभी संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ व हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये नो कषायोंरूपी परिग्रह शेष है।

पराधीन – अब समझा, इन कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए मुनिराज एकांत निर्जन वन में सिंह, व्याघ्र, जंगली जानवरों से न डरते हुए अपने ध्यान में मग्न रहकर कर्मों की सच्ची निर्जरा करते हैं।

स्वाधीन– बिल्कुल सही, पर ध्यान रहे कर्मों की निर्जरा जंगल में रहने से नहीं होती; बल्कि जिन परद्रव्यों से जुड़ने के कारण प्रतिक्षण उपयोग की बर्बादी होती थी, उस उपयोग को अपने उपयोग स्वरूप आत्मा में लगाने से होती है। कहा भी है–

नहीं किसी से भय जिनको, जिनसे भी भय न किसी को।
निर्भय ज्ञान गुफा रह शिवपथ दर्शाय सभी को।।
जो विभाव के फल में भी ज्ञायक स्वभाव निज ध्यावें।
बैठ समीप संत चरणों में पशु भी बैर भुलावें।।

पराधीन – इसका मतलब निषद्या परीषहजय करनेवाले मुनिराज सकल परिग्रह का त्याग करके महानिर्जन वन में, जहाँ सिंहादिक अनेक क्रूर वनचर जीव रहते हैं, वहाँ पर्वत गुफाओं में, पर्वत शिखरों पर अथवा श्मशान भूमि में अपने आत्मा की आराधना करके मोक्षमार्ग साधते हैं। भले ही कैसे भी उपसर्ग–परीषह या कैसी भी विघ्न बाधायें आवें तो भी उनसे भयभीत होकर अपने आसन से चलायमान नहीं होते। समताभाव पूर्वक अपने स्वरूप में ही स्थिर रहते हैं।

स्वाधीन– बिल्कुल ठीक, अब आज की चर्चा ऐसे संतों मुनि भगवंतों की जयकारे के साथ यहीं पूरी करते हैं। **बोलो ! चर्या, श्य्या एवं निषद्या परीषहजयी महामुनिराजों की... जय हो।**

मानुष देव अचेतन पशुकृत बैठे विपति आन जब घेरे।
ठौर न तजैं भजैं थिरता पद ते गुरु सदा बसो उर मेरे।।

12. आक्रोश परीषहजय

मंगलाचरण

सुन दुर्वचन क्षमा उर लावें, ज्ञानी मुनि आक्रोश न आवें।
धन्य-धन्य सबके उपकारी, वन्दनीय चैतन्य-विहारी॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं –

आक्रोश परीषहजय – मुनि जीवन के माहात्म्य को न समझकर यदि कोई अज्ञानी कठोर और अप्रिय वचन कहे तो भी उन्हें शान्ति से सह लेना और अप्रिय बोलनेवाले के प्रति मन में बुरा भाव न लाना आक्रोश परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

आक्रोश परीषहजय – जो कोई दिगम्बर मुनि को देखकर निन्दा करते हैं, दुर्वचन कहते हैं, गाली देते हैं; परन्तु ऐसे निष्ठुर वचन सुनकर किंचित्मात्र खेद नहीं करते; परन्तु उत्तम क्षमा ही धारण करते हैं। – इसप्रकार मुनिराज आक्रोश परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

आक्रोश परीषहजय वार्ता

निंदा के वचन सुनकर क्रोध/आक्रोश नहीं करना आक्रोश परीषहजय है।

अज्ञानी–हे भद्र पुरुष ! एक बात मेरी समझ में नहीं आई कि उस व्यक्ति ने तुम्हें कितना भला–बुरा कहा, पर तुम तो पत्थर की मूर्ति बने खड़े–खड़े सुनते रहे। क्या तुम उससे डरते हो?

ज्ञानी– अरे भाई ! उससे डरने या नहीं डरने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता और रही बात भला–बुरा कहने की, तो वह मुझसे भला–बुरा कह ही नहीं सकता।

अज्ञानी– न तो तुम बहरे लगते हो और ना ही बोरे (नहीं बोलने वाले); क्योंकि तुम मेरी बात सुन भी रहे हो और मेरी बात का बोल कर उत्तर भी दे रहे हो। फिर भी कह रहे हो कि वह मुझसे भला–बुरा कह ही नहीं सकता – ये बात कुछ समझ में नहीं आई।

ज्ञानी– देखो भाई, मैं तुम्हें समझाता हूँ। सुनो ! दुनियाँ में हमें जो कुछ भी दिखाई या सुनाई देता है; वह सब पुद्गल का परिणमन मात्र है। आत्मा तो मात्र उसका ज्ञाता–द्रष्टा है। वह तो किसी को दिखता ही नहीं है। कहा भी है –

जिनने मम रूप न जाना, वे शत्रु न मित्र समाना।
जो जाने मुझ आतम रे, वे ज्ञानी पूज्य हैं मेरे।।

अज्ञानी–तुम क्या कहना चाहते हो? मेरे तो कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

ज्ञानी– देखो ! मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं और वह व्यक्ति शरीर को देखकर ही गाली दे रहा था, आत्मा तो उसको दिख ही नहीं रहा था, तो वह मुझे गाली कैसे दे सकता है?

अज्ञानी– यदि शरीर को देखकर ही गाली दी गई तो फिर कोई मृत शरीर को देखकर गाली क्यों नहीं देता?

ज्ञानी– अरे वाह ! यह बात तो आपने खूब कही, पर भाई! विचार करो ! प्रत्येक द्रव्य के दो पक्ष हैं। एक स्थाई रहने वाला और एक क्षण–क्षण में बदलने वाला।

अज्ञानी– आप तो दार्शनिक बातें करके अपनी कमजोरी पर पर्दा डालना चाहते हैं, आप क्यों नहीं मान लेते हैं कि आप डरते हैं।

ज्ञानी– चलो भाई ! कुछ देर को आपकी बात मान भी लेते हैं कि हम डरते हैं। पर जानते हो किससे?

अज्ञानी–इसमें, किससे? इस प्रश्न को अवकाश ही कहाँ है?

ज्ञानी– है भाई है, सुनो ! हम डरते हैं क्रोधभाव से, क्रोध करने से, कषायों से; क्योंकि हम जानते हैं कि कभी हमने पूर्व में उस पर बिना वजह क्रोध किया होगा, इसीलिए तो वह आज हम पर क्रोध कर रहा है, गाली कह रहा है और यदि हमने फिर क्रोध किया तो हमें फिर कर्म का बंध होगा और फिर हमारे को क्रोध का सामना करना पड़ेगा। इसलिए हम क्रोध करने से डरते हैं।

अज्ञानी– ये तो सब शास्त्रों की बातें हैं, कहने की बातें हैं, मैं इन्हें नहीं मानता।

ज्ञानी– तुम मानो या नहीं मानो – यह तुम्हारी सोच है। अच्छा मुझे एक बात बताओ कि उसने मुझसे ही भला-बुरा क्यों कहा? यहाँ तो और भी चार व्यक्ति खड़े थे, तुम भी तो खड़े थे।

अज्ञानी– मुझसे! उसकी इतनी हिम्मत कहाँ थी, मैं उसकी बत्तीसी निकाल कर उसके हाथ पर रख देता

ज्ञानी– इतना क्रोध मत करो भाई ! अच्छा एक बात और बताओ, तुमसे तो वह डरता था, पर इन भाईसाहब से डरने का तो कोई कारण ही समझ में नहीं आता; क्योंकि ये तो अपंग व कमजोर हैं। उसने इन्हें गाली क्यों नहीं दी?

अज्ञानी– मान गये मित्र ! तुम्हारी बात में दम तो है। पर मुझे लगता है कि तुमने उसकी कुछ न कुछ हानि की होगी, लेकिन तुम ऐसे लगते तो नहीं हो, जरूर उसे ही कुछ भ्रम हुआ होगा।

ज्ञानी– तुम ठीक कहते हो, पर विचार करो। मैंने अभी अथवा इस भव में भले ही उसको हानि न पहुँचाई हो, कष्ट न पहुँचाया हो, पर कभी न कभी तो पहुँचाया ही होगा। आखिर सभी को अपने-

अपने कर्मों का फल तो मिलता ही है, पर वह उस फल को ग्रहण करे या न करे - इसके लिए वह स्वतन्त्र है।

अज्ञानी– फिर भी लोक में तो ऐसे व्यक्ति को कायर ही समझा जाता है?

ज्ञानी– क्षमाधारी को कायर समझने वाला, वास्तव में स्वयं कायर होता है। अपना दुख तो उसे दुख दिखता है, अपना अपमान तो उसे अपमान दिखता है और दूसरों का दुख/अपमान करके मजा मानता है। भाई यह तो पापी जीवों की सोच है कि अपना खून तो खून, दूसरे का खून सो पानी। और समझो ! दूसरों के कायर समझने से हम अपनी वीरता दिखाकर हिंसादि उत्पाद करेंगे तो नरकादि के दुख तो हमें ही प्राप्त होंगे, दूसरे तो हमारे साथ नरक जायेंगे नहीं। अतः हमें दूसरे की बातों में नहीं आना चाहिए। जिसमें अपना भला हो, वही करना चाहिए।

अज्ञानी– पापियों को दण्ड नहीं मिलेगा, तो क्या उनके हौंसले बुलंद नहीं होंगे?

ज्ञानी– यह कहाँ की समझदारी है कि पापियों के होंसले पस्त करने के लिए हम स्वयं पापी बन जायें।

अज्ञानी– बात तो तुम्हारी सही है, समझ में भी आती है, पर जब कोई भला-बुरा कहता है, तब क्रोध तो आ ही जाता है।

ज्ञानी– क्रोध आ जाता है, तो कौनसा भला करता है। हम जितनी देर कषाय करते हैं, उतने समय तक उससे हम ही दुखी होते हैं, सामने वाला भले ही दुखी हो या नहीं। इसलिए ज्ञानी वही है, जो अपने हृदय में कषाय को किञ्चित् भी स्थान नहीं देता।

अज्ञानी– तो फिर हमसे निंद्यवचन कहने वाले के प्रति हमें क्या करना चाहिए?

ज्ञानी– हमें तो उसका उपकार ही मानना चाहिए, क्योंकि वास्तव में उसने तो हमारे ही पूर्व कर्मों से प्रेरित होकर हमें गाली दी है, हमारे तो कर्म फल देकर निर्जरित हुए हैं और उसने कर्मों को बाँध लिया है। वह तो हमारे क्रोध का नहीं, करुणा का पात्र है।

अज्ञानी– ये तो बहुत कठिन है।

ज्ञानी– कठिन लगता है, पर है नहीं। क्या आपने उन ज्ञानसागर मुनिराज की कथा नहीं सुनी।

अज्ञानी– कौन ?

ज्ञानी– जिन पर मणि चुराने के भ्रम में अंगारक ने कितना क्रोध किया था।

अज्ञानी– सुनाओ न।

ज्ञानी– एकबार अंगारक जौहरी को राजा ने अपनी अंगूठी में मणि खचित करने को दी, वह घर जाकर राजा की अंगूठी में मणि जड़ने के बारे में विचार कर रहा था कि उसी समय श्री ज्ञानसागर मुनिराज आहार चर्या हेतु नगर में पधारे, तब अंगारक ने मणि वहीं रख दिया और मुनिराज को पड़गाहन कर आहार दिया। तबतक एक मोर उस मणि को मांस का टुकड़ा समझकर ले गया। आहार के बाद मणि न मिलने पर उसे राजा का भय सताने लगा, वह अन्दर ही अन्दर बहुत संक्लेशित होने लगा। उसने सोचा कि और तो कोई आया नहीं है, लगता है मुनि ज्ञानसागर सच्चे नहीं हैं, मेरा मणि उन्हीं ने चुराया होगा। अत: वह उन्हें खोजता हुआ जंगल में वहाँ पहुँच गया जहाँ श्री ज्ञानसागर मुनिराज सामायिक में बैठे थे। वहाँ जाकर अंगारक क्रोध में आग-बबूला होते हुए बोला-

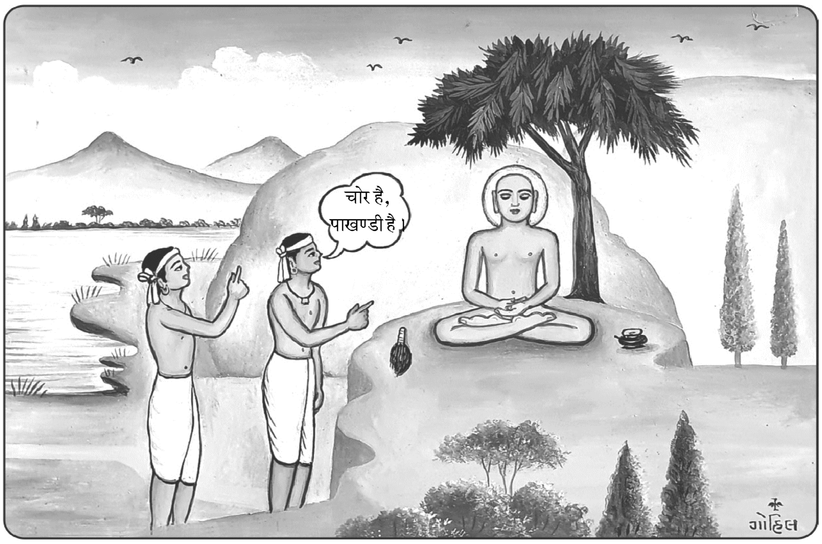

''अरे पाखण्डी ! जल्दी बोल !! बता, मेरी मणि कहाँ है ?''

परन्तु जवाब कौन देवे ? मुनिराज तो ध्यानस्थ थे। यद्यपि वे मुनिराज अवधिज्ञानी थे, तथापि स्वरूप से बाहर आकर अवधिज्ञान का जब उपयोग करें, तब बतावें न; लेकिन वे तो आत्मसाधना में लीन थे, उन्हें मौन देखकर अंगारक का क्रोध और भी अधिक बढ़ गया। उसने कहा – ''अरे धूर्त ! दिन-दहाड़े चोरी करके अब ढोंग करता है। तू यह मत समझना कि मैं तुझे ऐसे ही छोड़ दूँगा। जल्दी बता ! कहाँ है मेरी मणि ?''

परन्तु यहाँ वीतरागी मुनिराज की क्षमारूपी ढाल के सामने क्रूरवचन रूपी बाण कोई असर नहीं कर सके; क्योंकि वे तो आक्रोश परीषह को जीतनेवाले महामुनि थे। अत: वे तो मात्र अपने जाननस्वभाव को जानते हुए उस स्थिति के भी मात्र ज्ञाता ही थे।

अंगारक क्रोध में फिर चिल्लाने लगा – बोल ! सीधे-सीधे मेरी मणि देता है या नहीं ?.... या....।''

मुनिराज नहीं बोले तो नहीं ही बोले, ध्यान से नहीं डिगे तो नहीं ही डिगे; परन्तु वहाँ कुछ अलग ही चमत्कार हो गया। क्या चमत्कार हुआ ? चमत्कार यह हुआ कि इसकी भयंकर चीख भरी आवाज सुनकर डाल पर बैठा मोर जोर से चीखा और उसके कण्ठ में से कोई चमकीली-सी वस्तु जमीन पर गिर ढुलकती हुई मुनिराज तथा अंगारक के बीचों-बीच आकर स्थिर हो गई।

पद्मरागमणि के गुम हो जाने का रहस्य अब उसके चित्त में एकदम स्पष्ट हो गया था और अब वह अपने अविचारी कृत्य के कारण पश्चाताप के सागर में अचेत पड़ा था....।

श्रीमुनिराज ने णमो सिद्धाणं कहकर जब ध्यान पूरा किया और आँखें खोलीं....तब देखा कि कुछ समय पूर्व (आहारदान के समय) का यह अंगारक यहाँ चरणों में पश्चाताप के कारण सिसक....सिसक कर रो रहा है....एक तरफ पद्मरागमणि धूल में धूल-धूसरित पड़ी है....श्री मुनिराज को सारी परिस्थिति समझते देर नहीं लगी....उन्होंने अंगारक को आश्वासन देते हुए महा करुणार्द्र होकर कहा –

''वत्स अंगारक! दुःखी मत हो। सोच-विचार छोड़ दो। इज्जत और लक्ष्मी का मोह ऐसा ही है, जो जीव को अविचारी बना देता है। जो होना था, सो हो गया....अब शोक करना छोड़ दो और....अपना आत्महित साधने के लिए तत्पर हो।'' ये मुनिराजों के आक्रोश परीषहजय का उत्कृष्ट उदाहरण है।

अज्ञानी– यह कथा विस्तार से कहाँ मिलेगी ?

ज्ञानी– यह जैन कथा संग्रह भाग–1 में 44वे नं. की कहानी है, उसे अवश्य पढ़ना।

अज्ञानी– जब हमारे मुनिराज ऐसी भयंकर परिस्थिति में भी क्रोध नहीं करते, तब फिर हमें छोटी-छोटी बातों पर क्रोध/आक्रोश क्यों आ जाता है ?

ज्ञानी– वास्तव में जब कोई किसी संयोग को अनिष्ट जानता-मानता है, तब ही उसे उस पर क्रोध/आक्रोश आता है।

अज्ञानी– और अनिष्ट क्यों जानता-मानता है ?

ज्ञानी– अनिष्ट इसलिए जानता-मानता है, क्योंकि वह उसे अपने दुख का कारण जानता-मानता है।

अज्ञानी– और दुख का कारण क्यों जानता-मानता है ?

ज्ञानी– क्योंकि वह अपने सुख स्वभाव को नहीं जानता-मानता है, इसलिए सुख पर में/संयोगों में खोजता है और उनमें सुख है नहीं, अत: क्रोध/आक्रोश करता है। वास्तव में अपने को आत्मा न मानने के कारण ही क्रोध/आक्रोश आता है।

अज्ञानी– अच्छा ! एक बात बताओ। यदि वह हमें मात्र गाली ही न दे, हमारा वध ही करने लगे, क्या हमें तब भी प्रतिकार नहीं करना चाहिए।

ज्ञानी– भाई ! सच्चाई तो यही है कि यदि हमें आगामी काल में नरकादि के दुख नहीं भोगना है तो हमें उस समय भी प्रतिकार न करके समताभाव ही रखना चाहिए।

अज्ञानी– पर ये कैसे संभव है ?

ज्ञानी– यह जानने के लिए वध परीषह वार्ता अवश्य पढ़िये।

अज्ञानी– जरूर, बोलो! आक्रोश परीषहजयी महामुनिराजों की जय हो।

13. वध परीषहजय

मंगलाचरण

पापोदय में कोई मारे, बांधे अग्नि में परजारे।
तहाँ तपोधन क्षोभ न करते, ध्यान विपाकविचय वे करते ।।

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं –

अङ्ग–प्रत्यङ्ग का छेद डालना, मारना–ताड़ना आदि व्यापार के होने पर भी उसे सहजभाव से सह लेना और इसे आत्मशुद्धि के लिये उपकारी मानना वध परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

भववासी जीव मारने–पीटने से सदैव भयभीत होते हैं। यदि कोई उन पर उपद्रव करे तो उससे द्वेष करके अतितीव्र कषाय धारण करते हैं; परन्तु मुनिराज को कोई पापी जीव बाँधे अथवा दण्ड, पाषाणादि से मारे और नाना प्रकार का उपसर्ग करके महान कष्ट पहुँचावे तो भी वे उससे रञ्चमात्र भी द्वेष नहीं करते, समताभाव ही रखते हैं। ऐसा विचार करते हैं कि मेरा आत्मा तो अमूर्तिक, अविनाशी, चिदानन्दमय है, उसे दुःख कौन दे सकता है ? कौन मार सकता है ? कौन पीट सकता है ? मैं तो ज्ञानानन्द स्वरूप ही हूँ। इसप्रकार मुनिराज वध परीषह जीतते हैं।

वे मुनिराज सकल विभाव परिणति को छोड़कर अपनी ज्ञानानंद रूप स्वभाव परिणति में ही रमण करते हैं।
– पुरुषार्थसिद्धि उपाय, पृष्ठ–251

वध परीषहजय वार्ता

मारने पर भी मारने वाले पर क्रोध नहीं करना वध परीषहजय है।

शिष्य – गुरुदेव ! यह बात कदाचित् समझ में भी आती है कि ''कोई हमें भला–बुरा कहे तो हम उससे न उलझें। यह विचार कर रह भी जायें कि हमें कोई गाली चिपक थोड़ी गई। अपने काम से काम रखो, कुत्ते भोंकते रहते हैं, हाथी कब उनकी ओर मुड़कर देखता है।'' – इत्यादि विचार कर संतोष कर लें; परन्तु जब कोई हमें मारने लग जाये, हमारा छेदन–भेदन करने लग जाये तब तो क्रोध आ ही जाता है, दुखी हो ही जाते हैं। इससे बचने का कोई उपाय भी भासित नहीं होता।

गुरुदेव – वत्स ! पराश्रित सोच ऐसी ही होती है। आत्मा के आश्रय से सोचकर देखो। **जिसप्रकार आत्मा को गाली नहीं लगती उसीप्रकार आत्मा का वध भी नहीं होता।** बस ! इसी विचार से महामुनिराज वध–बंधन की परवाह न करते हुए अपने स्वरूप में स्थिर रहकर कषायों के वध–बंधन से बचकर मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। इसप्रकार महामुनिराज वधपरीषह पर सहज ही विजय प्राप्त कर लेते हैं।

शिष्य – जब हम मर ही जावेंगे तब फिर अपनी आत्मा का कल्याण कैसे कर सकेंगे। यह कैसे संभव है कि हम प्राप्त पर्याय को तो संभालें नहीं और भविष्य में स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त होगा – इस आशा में साक्षात् दुख सहन करते रहें?

गुरुदेव – उन महामुनिराजों से पूछो कि यह कैसे संभव है? अरे ! जरा सोचो तो सही, **जिसे एक बार के मरण में ही इतना**

दुख लगता हो, वह अनंतबार जन्म-मरण के दुखों के कारण-भूत नरक निगोद में ले जाने वाले पाप से नहीं डरेगा क्या? अवश्य डरेगा। अभयघोष मुनिराज को उसके बैरी चण्ड ने हाथ-पैर काटकर कितना दुख दिया था और उन्होंने उसे समताभाव से सहन कर अपने सर्व कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त किया था। ऐसा मत समझो कि वे कमजोर थे, अरे ! उस समय उनको ऐसी ऋद्धियाँ प्रगट थीं कि मात्र एक बार कह देते कि भस्म हो जा, तो चण्ड भस्म हो जाता।

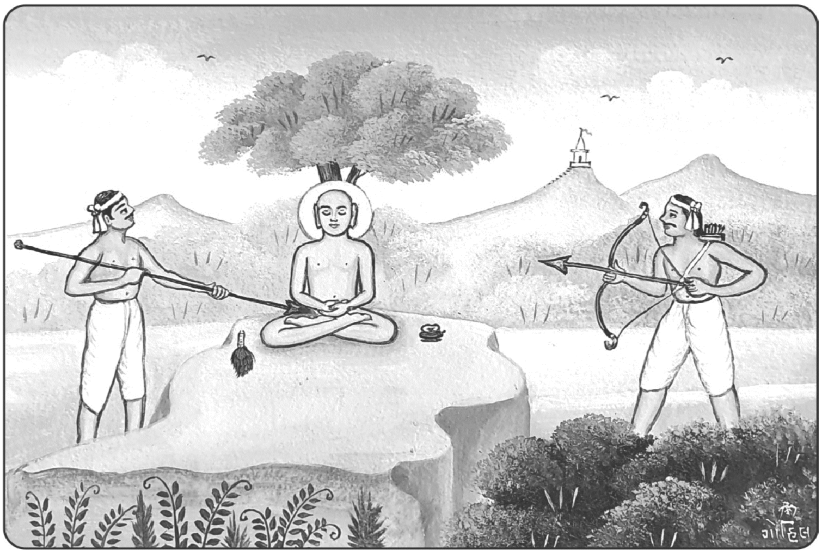

शिष्य – फिर उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया ?

गुरुदेव – ये कार्य तीव्र कषाय से होते हैं, उनमें शारीरिक बल की कमी नहीं थी, कषाय मंदतम थी। वे जानते थे कि ये चण्ड मात्र इस शरीर को हानि पहुँचा सकता है, मुझे नहीं। मैं तो अपने अशरीरी आत्मा की शरण में जाकर अनंतकाल के लिए इस शरीर से अपना नाता तोड़कर सिद्धालय में अनंतसुखी होकर तिष्ठूँगा।

शिष्य – पर हमारी तो इतनी उग्र साधना होना सम्भव नहीं है। हम क्या करें ?

गुरुदेव – कोई बात नहीं। मैं आत्मा हूँ, कभी मरता नहीं और शरीर जड़ है, कभी अमर होता नहीं, मेरा होता नहीं – ऐसा मानने में हमें अभी कौन रोकता है ?

शिष्य – इससे क्या होगा ?

गुरुदेव – इससे शरीर छूटने का भय कम हो जायेगा और मरण का भय भी कम हो जायेगा।

शिष्य – कम होने से क्या होगा ?

गुरुदेव – जो कम हो सकता है वह नष्ट भी हो सकता है।

शिष्य – कोई पदार्थ नष्ट तो होता नहीं है।

गुरुदेव – यह सत्य है कि कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता, पर बदलता तो है और उसके इस परिवर्तन को ही नष्ट होना कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वह बदल कर भी अनबदला है और अनबदला रहकर भी बदल जाता है।

शिष्य – तो क्या पदार्थ दलबदलू है ?

गुरुदेव – अरे भाई ! ऐसा नहीं है, वास्तव में एक ही पदार्थ में दो तत्त्व हैं। एक स्थाई रहनेवाला तत्त्व है और एक क्षण-क्षण में बदलने वाला तत्त्व है।

शिष्य – यही तो समझ में नहीं आया। एक ही समय में, एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो पक्ष कैसे हो सकते हैं ?

गुरुदेव – अरे भाई, प्रत्येक वस्तु स्वयं से ही द्विपक्षीय है, एक द्रव्यपक्ष और दूसरा पर्यायपक्ष। पर उनका एक समय में एक साथ रहने से भिन्नपना भासित नहीं होता।

शिष्य – बहुत कठिन है, थोड़ा विस्तार से समझाओ न ?

गुरुदेव – यह समझ में आना इतना कठिन नहीं है, बस ! थोड़ा वस्तु के स्वरूप को वस्तु की ओर से देखने की जरूरत है। जैसे – मैं पूछता हूँ कि तुम अभी 25 वर्ष के हो, आज से 20 वर्ष पूर्व तुम्हीं 5 वर्ष के थे या कोई और था 5 वर्ष का।

शिष्य – मैं ही था 5 वर्ष का।

गुरुदेव – वह कहाँ है अभी ?

शिष्य – वह तो अवस्था थी, चली गई और मैं 25 वर्ष का हो गया।

गुरुदेव – इसका मतलब है कि तुम्हारा एक पक्ष वह है, जो क्षण-क्षण में बदल रहा है और दूसरा पक्ष वह है जो कभी नहीं बदलता। 'जो बदल गया'- ऐसा 5 वर्ष का स्वरूप भी तुम्हारा ही है, जो अभी तक बदला नहीं है तथा इसके पूर्व भी था और आगे भी रहेगा - ऐसा स्थाई रहने वाला स्वरूप भी तुम्हारा ही है। इसप्रकार तुम्हारा स्वरूप प्रतिसमय बदलने वाला भी ठहरा और कभी न बदलने वाला भी ठहरा।

शिष्य – (जो अब ज्ञानी बनने की ओर सम्मुख हो रहा है।) इसका अर्थ तो यह हुआ कि मैं तो अपरिवर्तनीय स्थाई तत्त्व हूँ और मेरी अवस्था, बदलने वाली दशा का नाम है – ये दोनों पक्ष प्रति समय मुझमें विद्यमान हैं। मैं बदलते हुए भी नहीं बदलता और नहीं बदलकर भी पूरी तरह बदल जाता हूँ।

गुरुदेव – ये तो असमानजातीय मनुष्य पर्याय को ही द्रव्य मानकर उदाहरण के रूप में बताया है। इसका सिद्धान्त समझ में आया ?

शिष्य – आप ही सिद्धान्त पर घटाकर ...।

गुरुदेव – देखो ! मूल में तो छह द्रव्य हैं। जिनमें मैं एक जीवद्रव्य हूँ दूसरा पुद्गल द्रव्य है। यद्यपि अनादि से ये दोनों तिल में तेल की भाँति मिले हुए हैं, तथापि हैं तो भिन्न-भिन्न ही। अतः आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक भासित होते हैं। व्यवहार से एक कहे भी जाते हैं।

शिष्य – ये तो ठीक है, पर इसमें क्षण-क्षण बदलना और सदा स्थाई रहना यह बात समझ नहीं आई ?

गुरुदेव – कोई बात नहीं, समझो। जैसे – शरीर क्षण-क्षण में बदलता है और आत्मा उसमें रहता है, अतः आत्मा भी बदला न ! इसीलिए तो कहा जाता है कि मनुष्य-जीव, देव-जीव, नारकी-जीव, तिर्यंच-जीव इत्यादि।

शिष्य – और स्थाईपना, उन सबमें व्याप्त जीव ही रहा न।

गुरुदेव – हाँ।

शिष्य – तब फिर जीव के बदलने में पुद्गल/शरीर ही कारण रहा न।

गुरुदेव – नहीं ! शरीर (पुद्गल) अपनी योग्यता से प्रतिसमय बदलता है और जीव अपनी योग्यता से प्रतिसमय बदलता है।

जैसे-'मनुष्य ही देव हुआ' यहाँ मनुष्य देह तो यहीं रह गई और जीव, देवपर्याय में चला गया, वहाँ जीव ही स्वतंत्र रूप से गया। मनुष्य देह का वियोग और देव देह का संयोग निमित्त रहा। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र रूप से स्वयं होता है। उसमें परद्रव्य का संयोग-वियोग तो निमित्तमात्र है।

शिष्य – देह परिवर्तन होने पर भी तेजस-कार्मण शरीर तो साथ रहते ही हैं।

गुरुदेव – पर जब जीव मोक्ष जाता है, तब तो कोई शरीर साथ नहीं रहता। इससे यह सिद्ध है कि जीव और शरीर त्रिकाल भिन्न-भिन्न ही हैं और उनका परिणमन भी स्वतंत्र है। इससे यह सिद्ध ही है कि देह और आत्मा सदा काल भिन्न ही हैं।

शिष्य – जब यह बात इतनी स्पष्ट है, हमें समझ में भी आ गई, तब इसके प्रति हमारी दृढ़श्रद्धा उदित क्यों नहीं होती?

गुरुदेव – अरे भाई ! अनादिकाल के विपरीत संस्कार इतनी आसानी से नहीं छूट जायेंगे। इसके लिए हमें महामुनिराजों की तरह **देहादि संयोगों के प्रति क्रमशः अपनेपन की प्रगाढ़ता कम करके अपने चैतन्य स्वभाव में अपनेपन की प्रगाढ़ता बढ़ानी होगी।**

शिष्य – मुनिराज तो वन जंगल में रहकर भी निर्भय रहते हैं, निष्कषाय रहते हैं। उनके ऊपर कैसे भी उपसर्ग परीषह आवें तो भी वे अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। पर हम तो ....

गुरुदेव – तुम्हारा कहना सत्य है। इसका मुख्य कारण तो यही है कि उनके आत्मस्थिरता है; हमारे नहीं है।

शिष्य – गुरुदेव ! हमारे अन्दर ऐसी दृढ़ता कैसे आवे ?

गुरुदेव – **संत निरंतर चिंतत ऐसे,**
आतमरूप अबाधित ज्ञानी।
वर्णादिक विकार पुद्गल के,
इनमें नहिं चैतन्य निशानी।।

इसप्रकार हम निरंतर ऐसा चिंतन करते रहें। तत्त्वाभ्यास, तत्त्वनिर्णय में अपने उपयोग को रमाये रहें, एक दिन हमें भी अवश्य उन जैसी दृढ़ता आवेगी।

शिष्य – तो क्या मुनिराज निरंतर ऐसा ही चिंतन करते हैं ?

गुरुदेव – करते हैं यह कहना तो कथन मात्र है, वास्तव में तो उनके अजपा जाप की तरह निरन्तर ऐसा ही अभिप्राय वर्तता है, अत: उनके निरंतर निजात्मा के अनुभव का ही पुरुषार्थ रहता है।

परीषह के काल में भले ही ऐसा चिंतन करते हों, जैसाकि सुदृष्टितरंगिणी में लिखा है – ''कोई पापीजन निर्दोष वीतरागी मुनि को मारते हैं, बाँधते हैं, अग्नि से जलाते हैं – इत्यादि उपद्रव करते हैं तो करुणाभावी समतासागर जगत की पीर हरनेवाले यति किसी से द्वेषभाव नहीं करते हैं। यदि कोई निर्दयी पुरुष मुनि को लात-घूँसे से मारे, तब भी योगीश्वर ऐसा विचार करते हैं कि मुझसे इसका कुछ अपराध हुआ होगा, इसलिए मारता है ...यदि कोई शस्त्र से घात करे तो ऐसा विचार करते हैं कि मैं तो अमूर्तिक चेतन हूँ, मेरा तो घात होता नहीं...''

– इसप्रकार कोई मुनिराज को मारे, बाँधे तो भी वे उससे द्वेष या प्रतिकार नहीं करते हैं, ऐसे होते हैं हमारे **वध परीषहजयी** महामुनिराज, उनकी जय हो।

शिष्य – बोलो! वध परीषहजयी महामुनिराजों की... जय हो।

'जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करें' वे साधु हैं।
यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निश्चय रत्नत्रय की बात है।

अखण्ड अभेद एकरूप त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि निर्विकल्प **सम्यग्दर्शन,** इसी का स्वसंवेदन ज्ञान **सम्यग्ज्ञान** और इसी में रमणता रूप आचरण **सम्यक् चारित्र** है। जो इस निश्चय रत्नत्रय का सेवन करें, वे साधु हैं। **– प्रवचनरत्नाकर भाग 1, पृष्ठ-275**

14-16. याचना, अलाभ, रोग परीषहजय

मंगलाचरण

निज में ही संतुष्ट यतीश्वर, पर की चाह न करते गुरुवर।
नहीं औषधि भी वे याचें, परम विरक्त शान्त रस राचें॥
पर से लाभ न हानि मानें, सहज पूर्ण प्रभुता पहिचानें।
पर-अलाभ प्रति सहज उपेक्षा, भावें वे द्वादश अनुप्रेक्षा॥
रोगादिक देहाश्रित जानें, कायर होकर दुख नहिं मानें।
तप से कर्म निर्जरित करते, क्लेश जगत के भी वे हरते॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं -

याचना परीषहजय - भूख-प्यास की बाधा सहते-सहते यद्यपि शरीर कृश हो गया है, तथापि जिनके मन में याचना का भाव नहीं है और भिक्षा के समय सहजभाव से यदि आहार-पानी मिल जाय तो स्वीकार करते हैं अन्यथा मन में अलाभजन्य (प्राप्त हो जाय - ऐसा) विकल्प नहीं आने देना याचना परीषहजय है।

अलाभ परीषहजय - आहार, पानी के लिये पर्यटन करते हुए आहार-पानी का लाभ न होने पर अर्थात् आहार न मिलने पर किसी प्रकार का विकल्प न करना अलाभ परीषहजय है।

रोग परीषहजय - ठण्डी, गर्मी एवं असाता आदि के निमित्त से अनेक रोगों के होने पर भी व्याकुल न होना और शान्तिपूर्वक उन्हें सह लेना रोग परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं -

याचना परीषहजय - याचना से सभी संसारी जीव दुखी हो रहे हैं, दूसरों की क्या कहें ? इन्द्र, चक्रवर्ती सरीखे भी अभिलाषा से रंक

हो रहे हैं; परन्तु अयाचक व्रतधारी मुनिराज किसी से भी कुछ माँगते नहीं। अरे ! जिन्हें तीर्थंकर जिनराज से भी मोक्षरूपी लक्ष्मी नहीं माँगनी, वह भला अन्य किसी से और कोई वस्तु क्या माँगें ?

याचना समान जगत में अन्य न्यूनता नहीं और अयाचकव्रत समान त्रैलोक्य में अन्य उत्कृष्टता नहीं। मुनिव्रत का मूल अयाचीवृत्ति है। वे तो स्नान, भोजन, धर्मोपकरणादि कुछ भी किसी से नहीं माँगते, महा निरभिलाषी रहते हैं। मुनिराज को भले ही हफ्तों, महिनों, वर्षों तक आहार न मिले तो भी कभी किसी श्रावक से आहार की याचना नहीं करते, इसलिए मुनि की वृत्ति को सिंहवृत्ति कहते हैं - इसप्रकार वे याचना परीषह को जीतते हैं।

अलाभ परीषहजय – साधु ने अनेक उपवास किये हों और यदि पारणा के दिन निर्दोष आहार का लाभ न हो तो चित्त में रंचमात्र खेद नहीं मानते। इसप्रकार जो यतीश्वर लाभ-अलाभ दोनों में रंचमात्र खेद नहीं मानते। वे ही अलाभ परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

रोग परीषहजय – पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर में पीड़ा हो जाये तो मुनिराज उस रोग से दुःखी नहीं होते। रोग हो जाने पर लौकिकजन अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं; परन्तु मुनिराज अपने शरीर में इन रोगों के उपस्थित होने पर किसी प्रकार का खेद चित्त में नहीं आने देते और न ही उन रोगों के प्रतिकार का कोई उपाय करते हैं। वह तो पूर्वकृत कर्मों का फल जानकर अत्यन्त निश्चलतापूर्वक आत्मध्यान में लीन रहते हैं - वे रोग परीषह को जीतते हैं।

याचना, अलाभ, रोग परीषहजय वार्ता

संचालक – आज के शंका-समाधान का कार्यक्रम आरम्भ हो, उससे पहले समारोह के संयोजक उसकी भूमिका में उपने विचार व्यक्त करेंगे। मैं उनसे निवेदन करता हूँ कि वे अतिसंक्षेप में अपनी बात रखें।

संयोजक – जगत में आधि-व्याधि-उपाधि अथवा शारीरिक, मानसिक और काषायिक ये तीन रोग सभी संसारियों को प्राय: बने ही रहते हैं। और इन रोगों का निदान व उपचार का लाभ प्राप्त न हो तो ये बढ़ते ही जाते हैं। तथा उपचार की भी याचना करना पड़े और फिर भी पूर्ण न हो तो जो दुख होता है, उसको हजार जिव्हाओं से कहना भी असम्भव है। इस सन्दर्भ में जिसको भी शंका हो वह अपनी शंका का समाधान इस मंच से प्राप्त कर सकता है।

शंका – महोदय, आज तो बड़ी से बड़ी बीमारियों का इलाज होने लगा है।

समाधान – यद्यपि तुम्हारा यह कथन आंशिकरूप से सत्य भी मान लिया जाय तो भी वे सभी इलाज शारीरिक बीमारियों के ही तो हैं। उस रोग की भी असली जड़ तो हमारी बिगड़ी मानसिकता है और उसका भी बीज है हमारी कषायें। यहाँ कषायों में मिथ्यात्व शामिल ही समझना चाहिए। जैसा कि पण्डित टोडरमलजी ने मो.मा.प्र. पृष्ठ 27 पर लिखा है – ''**मोह के उदय से मिथ्यात्व क्रोधादिक भाव होते हैं उन सबका नाम सामान्यत: कषाय है।**'' और आगे पृष्ठ 28 पर लिखा है कि ''**जिन्हें बंध (दुख) नहीं करना हो वे कषाय न करें।**'' इससे यह सिद्ध होता है कि दुख या दुख का असली कारण मिथ्यात्व और कषायभाव है।

शंका – यह बात तो समझ नहीं आई। भूख लगे तो भूख का दुख, बीमार हो तो बीमारी का दुख और कषाय हो तो कषाय का दुख कहो।

समाधान – परमार्थ से ऐसा नहीं है। परमार्थ से तो कषाय का ही दुख है। कषाय न हो तो ये दुख तो दुख नाम भी न पावें।

शंका – वह कैसे ?

समाधान – जैसे बालक को भूख तो लग रही है, पर भोजन नहीं कर रहा है, क्योंकि अभी उसे खेलने की धुन सवार है। इससे यह सहज सिद्ध है कि अभी उस बालक को खेलने सम्बन्धी कषाय है, भोजन सम्बन्धी नहीं। अत: मुख्यरूप से कषाय का ही दुख होता है। बाह्य सामग्री को तो मात्र उपचार से कह दिया जाता है।

शंका – मात्र उपचार क्यों ? बाह्य सामग्री मिलने पर दुख कम होता या मिटता भी तो देखा जाता है।

समाधान – यह बात ठीक है, परन्तु दुख के कम होने या मिटने का सम्बंध भी कषाय के कम होने या मिटने से है, न कि बाह्य सामग्री के मिलने से।

शंका – कषाय भी तो बाह्य सामग्री मिलने पर ही मिटी।

समाधान – यदि ऐसा है तो वही बाह्य सामग्री जरूरत से अधिक मिल जाये, तब तो पूरा ही दुख मिट जायेगा न ?

शंका – बिल्कुल, मिट ही जाना चाहिए।

समाधान – तब फिर आपको जो रसगुल्ला बहुत प्रिय है, उसके मिलने पर भूख न हो तो भी एक-दो तो खा ही लेते हो।

शंका – हाँ, रसगुल्ला मिल जाय तो फिर क्या पूछना, मुझसे खाये बिना रहा ही नहीं जाता।

समाधान – तब फिर आप दो ही क्यों खाते हो ? कमी थोड़े ही है, 200 खाओ न।

शंका – फिर तो उनमें मजा की जगह सजा मिल जायेगी।

समाधान – क्यों ? रसगुल्ला तो वही है और तुम्हें बहुत प्रिय भी है, फिर आनंद की जगह उनसे ही दुख क्यों होगा ? इसका अर्थ है कि बाह्य सामग्री में तो आनंद बिल्कुल भी नहीं है।

*(**बीच में संचालक** – भाई ! अन्य लोगों को भी प्रश्न पूछने दीजिए।*
***संयोजक** – मेरा ऐसा मानना है कि यहाँ बैठे लगभग सभी महानुभावों के मन में यह तो मूलभूत प्रश्न है ही, कि दुख का मूल कारण क्या है और वह दूर कैसे हो ? अत: इसका समाधान तो होना ही चाहिए। फिर भी यदि किसी को इससे संबन्धित कोई प्रश्न हो, तो अवश्य पूछिए।)*

शंका – आपकी बात तो सही है, पर आनंद तो रसगुल्ला के सेवन करने से ही दिखाई देता है, इसका क्या कारण है ?

समाधान – इसका कारण है 'इच्छा का अभाव होना' अत: इच्छा का अभाव सुख का कारण हुआ एवं इच्छा का सद्भाव दुख का कारण हुआ। और इच्छा कषाय से होती है। अत: दुख का असली कारण कषाय है। (खेलने की इच्छावाले बालक की तरह)।

शंका – तो ठीक है न, यदि बाह्य सामग्री नहीं मिलेगी तो इच्छा दूर नहीं होगी। अत: बाह्य सामग्री की जरूरत तो रही ही।

समाधान – एक इच्छा पूरी हो नहीं पाती कि दूसरी इच्छा खड़ी हो जाती, दूसरी पूरी होती नहीं कि तीसरी... इसीप्रकार अनंत इच्छाओं का सिलसिला सदा बना ही रहता है। इसलिए ये उपाय मिथ्या है।

शंका – ये बात तो आपकी सही है।

समाधान – इतना ही नहीं, ऐसी अनंत इच्छायें समस्त संसारी जीवों के हमेशा बनी रहती हैं। फिर किसको क्या मिलेगा ? सोचा कभी। आत्मानुशासन में कहा भी है –

आशागर्त: प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वमणुपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।36।।

शंका – फिर क्या करें ?

समाधान – इसीलिए तो कहा है कि इच्छाजनित दुख को

दूर करने का उपाय इच्छा की पूर्ति करना नहीं, बल्कि इच्छा उत्पन्न ही न हो – ऐसा उपाय करना चाहिए।

शंका – उसका सच्चा उपाय क्या है ?

समाधान – तत्त्वज्ञान के अभ्यासपूर्वक सर्वप्रथम तत्त्वनिर्णय हो फिर सम्यग्दर्शनादि हों, तब इच्छा उत्पन्न ही न हो। मोह के उदय से बाह्य पदार्थ इष्ट–अनिष्ट भासित होते हैं, अत: किसी को मिलाने की अथवा किसी को हटाने की आकुलता सदा बनी ही रहती है। जब सम्यग्दर्शनादि से जैसा पदार्थों का स्वरूप है, वैसा ही श्रद्धान–ज्ञान हो जायेगा, तब स्वयमेव ही उन्हें पाने या हटाने की इच्छा उत्पन्न ही नहीं होगी।

शंका – क्या इतने मात्र से बाह्य पदार्थों को पाने या हटाने की इच्छा मिट जायेगी, फिर कभी उत्पन्न नहीं होगी ?

समाधान – कमजोरी के कारण इच्छा उत्पन्न होगी, तो भी उपादेय नहीं लगेगी, उसकी पूर्ति में उत्साह व समर्पण जितना पहले होता था, अब उतना नहीं रहेगा। और **जैसे–जैसे ज्ञान स्थिर होता जायेगा, वैसे–वैसे इच्छायें हीन होती जायेंगीं।** इसीलिए तो कहा है कि **स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है।**

शंका – फिर क्या इच्छा रूपी रोग उत्पन्न ही नहीं होगा ?

समाधान – जितना–जितना ज्ञान स्थिर होता जायेगा, उतनी–उतनी इच्छाओं का अभाव होता जायेगा। ऐसी स्थिति पूरी तरह तो रोग, अलाभ व याचना परीषहजयी महामुनिराजों के ही होती है।

शंका – तो फिर उनके लिए रोग नहीं होता होगा ?

समाधान – पूर्वकर्म के उदय से शारीरिक रोग कदाचित् होता भी है तो भी उन्हें उसे दूर करने की **इच्छारूपी रोग नहीं होता।**

शंका – क्या उन्हें शारीरिक व्याधि से कष्ट नहीं होता होगा?

समाधान – शरीर जड़ पुद्गल की रचना है और आत्मा चैतन्य का पिण्ड है, अत: उन्हें अपने आत्मा में हुए रोगों से तो कष्ट होता है, पर शरीर के रोगों से कष्ट नहीं होता, क्योंकि वे अपने से शरीर को भिन्न ही अनुभव करते हैं। क्या आपने मुनिराज सनतकुमार की कथा नहीं सुनी?

शंका – नहीं, आप सुनायेंगे तो बड़ी कृपा होगी।

समाधान – सुनो, जब अतिशय रूपवाले चक्रवर्ती सनतकुमार को मुनिदशा में भयंकर कोढ़ हो गया। तब उनके धैर्य की प्रशंसा सुनकर एक देव, वैद्य का रूप धारण करके आया और कहने लगा-

''प्रभो ! आपकी आज्ञा हो तो मेरी औषधि से आपका रोग एक क्षण में मिट सकता है।''

उस समय मुनिराज ने कहा - ''हे वत्स ! इस शरीर का कुष्टरोग मिट जावे - ऐसी ऋद्धि (ताकत) तो मेरे थूक में ही है; परन्तु मुझे देह के रोग की जरा भी चिन्ता नहीं, मुझे तो अपनी आत्मा को भवरोग से मुक्त करना है। उसकी दवा तुम्हारे पास हो तो भवरोग दूर कर दो।''

तब देव ने कहा- "हे प्रभु ! इस भवरोग को मिटाने की रत्नत्रय औषधि तो आप ही के पास है।" ज्ञातव्य है - अन्त में सचमुच मुनिराज ने रत्नत्रयरूपी वीतरागी औषधि से अपना भवरोग मिटाया - यही तो उनका रोग परीषहजय है।

अरे, अनेक दिनों के उपवास के बाद आहार चर्या को जाने पर बहुत दिनों तक आहार की विधि न मिलने पर भी उन्हें मन में ऐसा विकल्प तक नहीं आता कि इतने दिन के बाद भी आहार की विधि नहीं मिली, अब क्या होगा ? अत: वे कैसा भी रोग आदि होने पर औषधि या आहार की याचना करते – ऐसे होते हैं हमारे अलाभ व याचना परीषहजयी मुनिराज। उन्हें हमारा नमस्कार हो।

शंका – तो क्या वे औषधिलाभ की भी इच्छा नहीं करते?

समाधान – जब वे देह को पर मानते हैं, तब उसके रोग की औषधि क्यों चाहेंगे? दूसरी बात यह भी तो है कि जब वे अपने को परिपूर्ण एवं आनंदमयी अनुभव करते हैं तब फिर पर से लाभ की इच्छा क्यों करेंगे ?

शंका – मुनिराजों को औषधि दान देने का विधान तो है।

समाधान – औषधि दान देने का विधान तो है, लेकिन औषधि का लाभ न हो तो वे खेद-खिन्न नहीं होते – यही तो उनका अलाभ परीषहजय है।

शंका – वे किसी से कहकर औषधि नहीं ले सकते ?

समाधान – अरे भाई, वे तो रत्नत्रयधर्म रूपी रसायन का सेवन करते हैं, जिससे उनका भव-रोग मिट जाता है और मोक्ष प्राप्त होता है। वे कायरों की भाँति किसी से, किसी भी प्रकार की याचना नहीं करते, यही तो उनका याचना परीषहजय है। कहा भी है-

औषधि असन पान इत्यादिक प्राण जांय पर जाचत नाहिं।
दुर्धर अयाचीक व्रत धारें करें न मलिन धरम परछांहिं॥

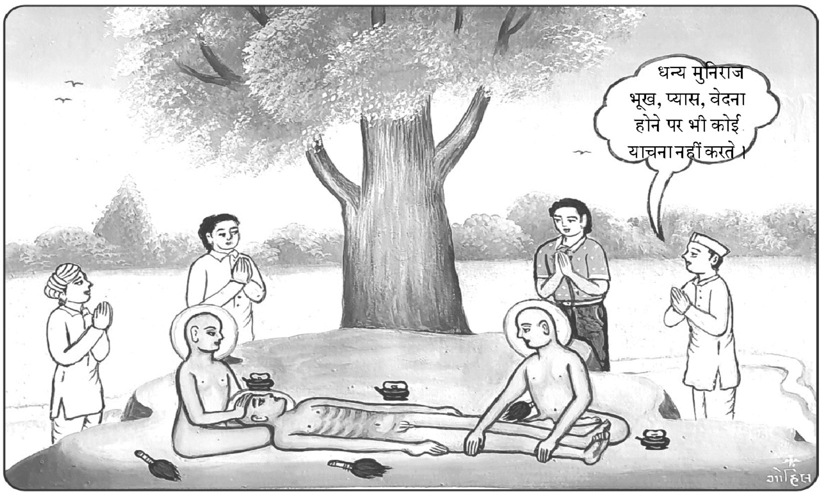

संयोजक – आशा है आज के शंका-समाधान कार्यक्रम में हम सबकी अनेकों शंकाओं के समाधान हुए होंगे, हम इस अवसर पर मंचासीन विद्वानों के साथ आप सबके प्रति भी आभार व्यक्त करते हुए सभा समाप्ति की घोषणा करते हैं।

संचालक – बोलए- याचना, अलाभ और रोग परीषहजयी महामुनिराजों की... जय हो।

17. तृणस्पर्श परीषहजय

मंगलाचरण

काँटे आदि पैर में लगते, उड़कर, आँखों में भी चुभते।
फिर भी पर-सहाय नहिं चाहें, सहज ज्ञानसिन्धु अवगाहें॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं –

चलते समय, बैठे हुए या शयन में तृण–काँटे आदि के शरीर में चुभने पर भी उसे सह लेना अर्थात् मन में किसी प्रकार का विकल्प न लाना तृणस्पर्श परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

जगवासी जीवों के शरीर में यदि एक फाँस भी लग जाये तो बेचैन हो जाते हैं; परन्तु जीवों की रक्षा करने में तत्पर, संयमधन के धनी योगीन्द्र के शरीर में चलते अथवा बैठते समय तृण, कंकड़, कण्टक, फाँस इत्यादि चुभ जाये तो उनको निकाल कर फेंकने का कुछ भी उपाय नहीं करते; अपितु निर्व्याकुल होकर निज स्वरूप में ही लीन रहते हैं – यह तृणस्पर्श परीषहजय है।

तृणस्पर्श परीषहजय वार्ता

अध्यापक – बालको ! आज हमें कौनसा पाठ पढ़ना है।

छात्र – तृणस्पर्श परीषहजयी सुकुमाल मुनिराज।

अध्यापक – सुकुमाल एक नगरश्रेष्ठी पुत्र थे, वह शरीर से इतने कोमल थे कि उन्हें मखमल के गद्दे पर पड़ा हुआ सरसों का दाना भी कांटे की तरह चुभ जाता था।

छात्र – फिर तो वे अपने स्वयं के काम भी नहीं कर पाते होंगे?

अध्यापक – बालको ! ऐसा नहीं है, उन्होंने संसार के काम किये हों या नहीं, पर संसार अभाव के काम जरूर किये।

छात्र – तो क्या इतनी सुकुमाल अवस्था में भी वे मुनि बन गये?

अध्यापक – हाँ।

छात्र – पर हमने तो सुना था कि उनकी माँ ने उन्हें महल से बाहर ही नहीं निकलने दिया था।

अध्यापक – यह बात सही है; परन्तु तुमने अधूरा सुना है, एकबार उनके सर्वतोभद्र महल के ही पास चैत्यालय में मुनिराज श्री यशोभद्र स्वामी का चातुर्मास हुआ, कार्तिक की पूर्णमासी की रात्रि के अन्तिम पहर में जब वे सामायिक के उपरान्त प्रात:काल त्रिलोक विज्ञप्ति का पाठ कर रहे थे, तब इस वज्र वाणी को सुनकर सुकुमाल महल में उपलब्ध कपड़ों की रस्सी बना कर उतर गये और दीक्षा लेकर वन की ओर प्रस्थान कर गये।

छात्र – तब तो उनके शरीर से रक्त की धार बह उठी होगी, फिर उनकी मुनि के योग्य साधना कैसे हो पाई होगी ?

अध्यापक – क्यों, इसमें क्या परेशानी है ? क्या तुम नहीं जानते कि तृणस्पर्श परीषहजयी मुनिराजों के पैर में कांटा भी लग जावे, तो भी वे न स्वयं ही उसे निकालते हैं और न ही किसी दूसरे से निकलवाते हैं।

छात्र – फिर चलने में उन्हें तकलीफ नहीं होती होगी?

अध्यापक – वे यह भलीप्रकार जानते हैं कि कांटा देह को चुभा है, उसका ज्ञान मुझे हो रहा है और फिर दूसरी बात यह भी तो है कि जैसे पिता की झलक पुत्र में दिखाई देती है, वैसे ही सिद्धों की झलक मुनिराज में दिखाई देती है। चैतन्य नगर में जिनका निवास हो, जगत जंजाल से जो उदास हो, एक आत्मा ही जिनका सर्वस्व

हो। – ऐसे मुनिराजों को देहजनित अवस्था में दुख भासित ही नहीं होता, वे तो उसमें भी अपने ज्ञान की ही प्रसिद्धि पाते हैं।

छात्र – फिर भी कठोर और नरम स्पर्श में अन्तर तो है ही, तो क्या उनके अनुभव में अन्तर नहीं होता होगा ?

अध्यापक – कठोर और नरम स्पर्श में अन्तर होने पर भी, उसको जानने वाले ज्ञान में तो अन्तर नहीं होता। वे तो उस ज्ञान को ही जानते हैं। क्या कठोर क्या नरम, उन्हें तो सब पुद्गल ही भासता है। बच्चो ! यह बाहर से समझ में आने वाली बात नहीं है, यह तो अन्तर से ही समझ में आती है।

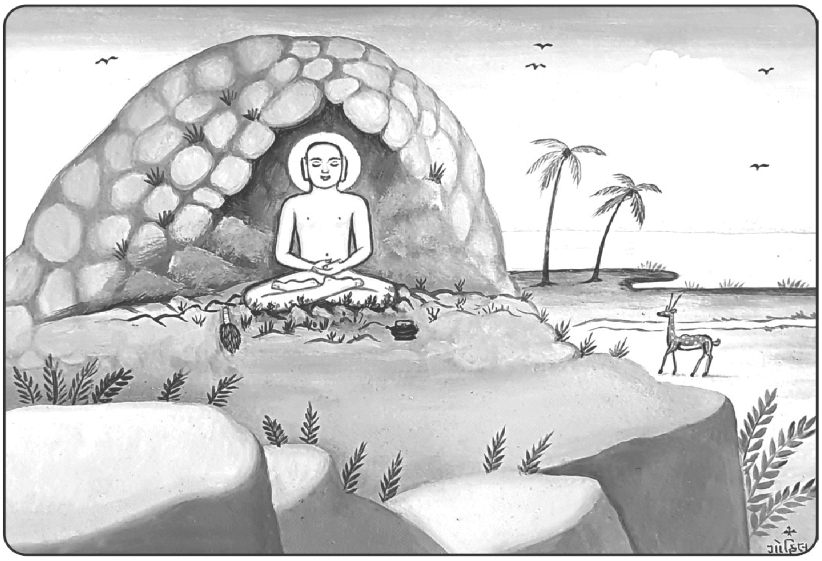

छात्र – आँख में कचरा चला जावे तो उसे निकालने का विकल्प तो आयेगा कि नहीं ?

अध्यापक – नहीं आयेगा, बिल्कुल नहीं आयेगा; क्योंकि उनका यह पक्का निर्णय है कि यह देह तो मुझसे भिन्न ही है और फिर नरक के भयंकर असह्य दुखों के सामने यह दुख क्या मायने रखता

है। सागरोपम की आयुपर्यंत उन दुखों को परवश सहन किया है, अब मोक्ष की साधना में बाधक इन पराश्रित दुखों से अपने को पराश्रित नहीं करना है। बस ! इसी निर्णय से उन्हें कांटा या कचरा निकालने का विकल्प नहीं आता।

छात्र – तो क्या वे देह के किसी भी दुख की परवाह नहीं करते?

अध्यापक – वे जब यह जानते हैं, मानते हैं, उसी पर चलने के लिए कटिबद्ध हैं कि देह तो पड़ोसी है, जड़ है, राख होनेवाली है, किसकी बच पाई है, उदयप्रमाण ही इसकी व्यवस्था बनेगी। अब धरती ही हमारा बिछौना है, आकाश ही चादर है। तात्पर्य यह है कि ऐसे समस्त बाह्य परीषहों पर विजय प्राप्त करनेवाले मुनीश्वर होते हैं, धन्य है उनका जीवन।

छात्र – गुरूजी ! बात तो तृणस्पर्श परीषह की चल रही है, मुनीश्वरों के तृणों पर चलना, बैठना तो होता नहीं है और हरी घास तो उड़कर लगती नहीं है, फिर तृण स्पर्श से क्या अभिप्राय है?

अध्यापक – तृण सूखे हुए घास को भी कहते हैं और तृणस्पर्श प्रतीकस्वरूप कहा है, यहाँ तृणस्पर्श से तात्पर्य पतझड़ इत्यादि में जब तेज हवाएँ चलती हैं और जंगल में सूखे घास, पत्ते, सींक, धूल, कांटे, कंकड़, कचरा इत्यादि मुनिराज के शरीर से आकर टकराते हैं, चुभन पैदा करते हैं और कभी-कभी आँख इत्यादि मर्म स्थानों में आकर भयंकर पीड़ा देते हैं तब भी मुनिराज उनके कारण अपने स्वरूप से विचलित नहीं होते और उनके निवारण का उपाय न तो वे स्वयं करते हैं और न ही किसी दूसरे से करवाते हैं। यही तो है उनका तृणस्पर्श परीषह को जीतना।

छात्र – अहो ! ऐसे होते हैं हमारे तृणस्पर्श परीषहजयी महा मुनिराज। बोलो ! तृणस्पर्श परीषहजयी महामुनिराजों की... जय हो।

18. मल परीषहजय

मंगलाचरण

आजीवन स्नान न करते, मलिन देह को भिन्न सु लखते।
निर्मल आतम सदा निहारें, निर्मल सहज परिणति धारें॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं –

शरीर में पसीना आदि के निमित्त से खूब मल जम गया है तो भी (आत्मा के चिरपवित्र स्वभाव में मग्न होने से) उद्विग्न न होना और स्नान आदि की अभिलाषा न रखना मल परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

मुनिराज के तो जीवन पर्यन्त स्नान और विलेपन का त्याग होता है, (क्योंकि वे अपने त्रैकालिक निर्मल ज्ञानानन्दस्वरूप में ही निमग्न रहते हैं।) ग्रीष्म ऋतु में धूप में रहने के कारण पसीने से शरीर में धूल आकर जम जाती है। नग्न शरीर मलिन दिखाई पड़ता है तो भी संयमी साधु का इस शरीर के प्रति ध्यान नहीं जाता; क्योंकि वे अपने आत्मगुणों में ही लीन रहा करते हैं, उसे ही मल परीषहजय कहते हैं।

वे ऐसी भावना भाते हैं कि हे जीव ! यह शरीर तो स्वभाव से ही महा मलिन है, इसे तो समुद्र के जल से धोया जाये तो भी पवित्र नहीं हो सकता। तू तो परम पवित्र आत्मा है। अतः शरीर की मलिनता से तू कैसे मलिन हो सकता है ?

अमूर्तिक पदार्थ को मल का संसर्ग – स्पर्श ही नहीं हो सकता। इसलिए हे आत्मन् ! तू इस देह का स्नेह त्यागकर अपने शुद्धभावों में लीन/स्थित हो जा। यह विचार करके मुनि मल परीषह पर विजय प्राप्त करते हैं।

मल परीषहजय वार्ता

अध्यापक – विगत दो दिवस से हम सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का स्वरूप पढ़ रहे हैं। जिनमें अबतक निशंकित और निकांक्षित अंग पढ़ चुके हैं। किसी को उसमें कुछ पूछना हो तो पूछ सकता है।

सुबोध – नहीं गुरुजी !

अध्यापक – तो मैं पूछता हूँ, बताओ शुभम ? निकांक्षित अंग किसे कहते हैं ?

शुभम – परद्रव्यादि में रागरूप वांछा का अभाव सो निकांक्षित अंग है। यह सम्यग्दृष्टि के होता है।

अध्यापक – बहुत अच्छे, अब निशंकित अंग का स्वरूप जागृति बतायेगी।

जागृति – सात भयों का अभाव अथवा सात तत्त्वों में संशय का अभाव सो निशंकित अंग है। यह सम्यग्दृष्टि के होता है।

अध्यापक – अब आज हमें निर्विचिकित्सा अंग पर चर्चा करनी है। क्या आप सब तैयार हैं ?

सभी एक साथ – जी गुरुजी !

अध्यापक – सम्यग्दृष्टि के निर्विचिकित्सा अंग जुगुप्सा कषाय या ग्लानि के अभाव में होता है। परद्रव्यादि में द्वेषरूप ग्लानि का अभाव सो निर्विचिकित्सा अंग है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखते हैं –

स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिः मता निर्विचिकित्सता।।13।।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य का शरीर स्वभाव से ही अपवित्र है और जिसके रत्नत्रय प्रगट हो जाये उसकी अशुचि देह भी पवित्र कहलाने लगती है। इसलिए व्रतियों के शरीर को रोगादि अथवा

अस्नानादि के कारण मलिन देखकर उनसे ग्लानि न करना उनके रत्नत्रय रूपी गुणों से प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग है।

ज्ञानचंद – गुरुजी ! कल मैंने घर पर अपने माता-पिता के साथ 22 परीषह का पाठ पढ़ा था, उसमें मुनिराजों को मल परीषह जयी कहा था। उसका भाव है – ''आजीवन स्नान नहीं करने से यद्यपि जिनकी देह मलिन हो गई है; तथापि वे अपने को देह से भिन्न सदा निर्मल आतमा ही अनुभव करते हुए परिणति में सहज वीतरागता धारण करते हैं।'' अत: निर्विचिकित्सा अंग और मल परीषहजय में क्या अंतर रहा ?

अध्यापक – निर्विचिकित्सा अंग चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के हो जाता है और मल परीषहजय छटवें-सातवें गुणस्थानवर्ती महामुनिराजों के होता है। निर्विचिकित्सा अंग में मुख्यरूप से श्रद्धा के स्तर पर ग्लानि का अभाव होता है और मलपरीषह जय में उत्कृष्ट चारित्र के स्तर पर ग्लानि का अभाव होता है। इसप्रकार दोनों एक होते हुए भी दोनों में महान अन्तर है।

छात्र – गुरुजी ! बाह्य में तो सम्यग्दृष्टि और मुनिराजों के महान अन्तर स्पष्ट समझ में आता है, पर अंतरंग में इस महान अन्तर का कारण क्या है ?

अध्यापक – दोनों में अल्प और अधिकता का ही मुख्यरूप से अंतर है। सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और एक कषाय चौकड़ी के अभाव में प्रगट शुद्धि का सुख है। मुनिराजों के मिथ्यात्व और तीन कषाय चौकड़ी के अभाव में प्रगट शुद्धि का आनंद है, सुख है। उनके आंशिक स्वसंवेदन है और मुनिराजों के प्रचुर स्वसंवेदन है।

छात्र – गुरुजी ! जहाँ हमें छोटी-छोटी बात या गंदगी से

ग्लानि/जुगुप्सा या दुख हो जाता है वहीं सम्यग्दृष्टि या मुनिराजों को जरा भी ग्लानि नहीं होती – इसका मूलकारण क्या है?

अध्यापक – जो सम्यग्दृष्टि और मुनिराज हैं वे वस्तु के सच्चे स्वरूप को जानते हैं, वे पुद्गल के अनेक स्वभावों को जानकर भी अपने को उन सबसे भिन्न अनुभव करते हैं। वे और हम (मिथ्यादृष्टि) एक जैसे नहीं हैं, हमारी बुद्धि इन्द्रियद्वार से बाहर ही बाहर लग रही है, अत: हम निजस्वरूप से च्युत हो रहे हैं। और सम्यग्दृष्टि तथा मुनिराजों ने अपनी बुद्धि को परद्रव्यों से हटाकर निजद्रव्य में लगाया है, अत: वह अपनी दृष्टि में तो अपने को पर से भिन्न – मुक्त ही अनुभव करते हैं। इसलिए उन्हें ग्लानि नहीं होती और हमें होती है।

सम्यग्दृष्टि और हम में अनंत का अन्तर है, उनका अनंत संसार मिट गया है और हमारा अभी अनंत संसार शेष है।

छात्र – मुनिराजों की बात तो ठीक है। पर सम्यग्दृष्टि तो हमारी–तुम्हारी तरह ही दिखते हैं, बाह्य संयोगों में सुखी–दुखी भी होते दिखाई देते हैं। लड़ाई भी लड़ते हैं, भोग भी करते हैं। प्रथमानुयोग में भरत चक्रवर्ती, बलभद्र राम आदि के उदाहरण भी आते हैं।

अध्यापक – ऐसा नहीं है। जैसे किसी ने साहूकार से कर्ज लिया हो तो बहुत आय होने पर भी उसके धन दिखाई नहीं देता, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि के पूर्वकर्म के उदयानुसार कुछ समय तो उस श्रद्धा का बल बाह्य में दिखाई नहीं देता, परन्तु कर्मों का उदय समाप्त होते ही वही अविलम्ब समस्त भोगों से विरक्त होकर मुक्तिपथ पर अप्रतिहत प्रयाण करते हैं और शीघ्र ही मोक्षदशा को पा लेते हैं।

भरत चक्रवर्ती, बलभद्र राम आदि के उदाहरणों को हम भोगों की तरफ से तो देखते हैं, उनके वैराग्य के अप्रतिहत पुरुषार्थ की तरफ से नहीं देखते। इसी कारण ऐसे प्रश्न उठते हैं। अत: शास्त्रों को

पढ़कर मात्र रटो मत, तत्त्वनिर्णय, तत्त्वभावना एवं तत्त्वोपलब्धि हेतु उसका विचार करना चाहिए।

छात्र – जी गुरूजी ! तत्त्वनिर्णय, तत्त्वभावना एवं तत्त्वोपलब्धि, कृपया इनका भिन्न-भिन्न स्वरूप एवं प्रयोग बताइए न?

अध्यापक – तुम्हारी जिज्ञासा उत्तम है। सुनो ! **तत्त्वनिर्णय** माने यथार्थज्ञान; शास्त्रानुसार जानकारी मात्र नहीं, बल्कि अपने में अपनेपन की और पर में परायेपन की दृढ़श्रद्धा के साथ भेदज्ञान ही तत्त्वनिर्णय कहलाता है। **तत्त्वभावना** माने स्व में ही प्रतिपल अपना हित दिखाई देना/भाषित होना अर्थात् किसी भी अपेक्षा पर में सुख दिखाई न देना, पर से सुख की चाह नहीं होना। चेतन के सामने जड़ महत्त्वपूर्ण नहीं लगना चाहिए। **तत्त्वोपलब्धि** माने अपना शुद्ध चैतन्य सुखस्वरूप मात्र लगे ही नहीं, बल्कि उसके आनंद में ऐसा मग्न हो जावे कि पर की याद भी न आवे।

छात्र – तत्त्वोपलब्धि तो मुनिराजों को ही होती होगी ?

अध्यापक – नहीं, ऐसा नहीं है। तत्त्वोपलब्धि होती तो सभी ज्ञानियों को है, पर सबकी एकाग्रता में फरक होता है। तदनुसार कर्मों की निर्जरा एवं शुद्धि की वृद्धि में भी फरक होता है। सम्यग्दृष्टि से देशव्रती श्रावक की और देशव्रती श्रावक से मुनिराजों की एकाग्रता अधिक होती है।

वे ही मुनिराज जब अपने अप्रतिहत पुरुषार्थ से पूर्ण वीतरागता प्राप्त कर लेते हैं तब कैवल्य प्राप्त कर शीघ्र ही साक्षात् मुक्ति का वरण करते हैं। पूर्ण तत्त्वोपलब्धि तो उन्हें ही होती है।

छात्र – गजब है, सम्यग्दृष्टि और मुनिराज दोनों में एक अपेक्षा समानता है तो दूसरी अपेक्षा महान अंतर भी है।

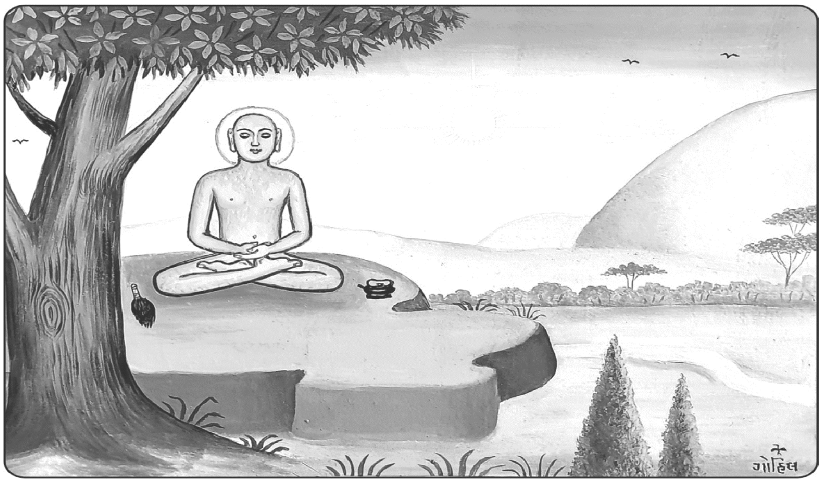

अध्यापक – जब नाम दो हैं तब अंतर तो होगा ही। सम्यग्दृष्टि के श्रद्धा अपेक्षा ग्लानि नहीं है और मुनिराजों के चारित्र की अपेक्षा भी ग्लानि नहीं है। जैसे – सम्यग्दृष्टि जहाँ बैठा हो वहाँ कोई पुरीषादि (विष्टादि) गंदगी कर जाये तो सम्यग्दृष्टि वहाँ से उठकर दूसरी जगह चला जायेगा, परन्तु मुनिराज जहाँ बैठे हों वहाँ कोई पुरीषादि गंदगी कर जाये तो वे वहाँ से उठकर दूसरी जगह नहीं जायेंगे। सम्यग्दृष्टि को उसके संबन्ध में विकल्प आयेगा, पर लम्बायेगा नहीं; परन्तु मुनिराज को विकल्प भी नहीं आयेगा इत्यादि।

छात्र – (आश्चर्य से) ओहो ! ऐसी उत्कृष्ट विशुद्धि होती है हमारे मुनिराजों की।

अध्यापक – अरे, ये तो उदाहरण मात्र हैं। उनकी विशुद्धि को तो वे ही अनुभव करते हैं और केवली जानते हैं। ऐसे होते हैं हमारे मलपरीषहजयी मुनिराज।

छात्र – क्या हमें भी उनके दर्शन मिल सकते हैं?

अध्यापक – उनके दर्शन करने की तुम्हारी भावना अवश्य सफल होगी। बोलो ! मलपरीषहजयी महामुनिराजों की...जय हो।

19. सत्कार पुरस्कारपरीषहजय

मंगलाचरण

नहिं सत्कार चहें मुनि-ज्ञानी, निजपर रीति भिन्न पहिचानी।
तिरस्कार नहिं करें किसी का, प्रभुतारूप लखें सबही का॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं –

विविध प्रकार के सत्कार और आमन्त्रण आदि के मिलने पर भी उससे हर्षित नहीं होना और ऐसा न होने पर दुःखी नहीं होना सत्कार पुरस्कार परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

देव, मनुष्य, तिर्यंच संसार के सभी जीव आदर-सत्कार से हर्षित होते हैं। सत्कार करनेवाले के प्रति मैत्रीभाव रखते हैं तथा अनादर करनेवाले के प्रति शत्रुता रखते हैं।

इसप्रकार निरन्तर राग-द्वेषरूप परिणमन करते हैं; किन्तु वीतरागता के धारक यतीश्वर, इन्द्र और चक्रवर्ती आदि के द्वारा पूजा-स्तुति किये जाने पर अथवा किसी अविवेकी जन के द्वारा निन्दा किये जाने पर किसी से राग-द्वेष नहीं करते; अपितु समताभाव धारण करते हुए मन में ऐसा विचार करते हैं कि हे जीव ! तू तो दृष्टि-अगोचर, वचन अगोचर, अमूर्तिक पदार्थ है, उसका कोई सत्कार अथवा स्तुति भला कैसे कर सकता है ? यह शरीर मल-मूत्र का भाजन है, वह भला स्तुति योग्य कैसे हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता। इसलिए (इसकी) स्तुति और निन्दा से हर्ष-विषाद मानना व्यर्थ है।

इसप्रकार जो मुनिराज किसी के पास से आदर-सम्मान की इच्छा नहीं करते और अनादर से खेद-खिन्न नहीं होते, वे ही सत्कार-पुरस्कार परीषह विजयी होते हैं।

सत्कार पुरस्कारपरीषहजय वार्ता

जिज्ञासु – हमारे मुनिराज तो महाराज कहलाते हैं और वे दीक्षा से पहले राजा कहलाते थे। पर यदि अब उनका कोई योग्य विनय, मान-सम्मान, सत्कार आदि नहीं करे तो भी वे उससे नाराज नहीं होते, क्रोध नहीं करते, जबकि राज्य अवस्था में तो करते थे।

गुरूजी – वत्स ! विनय, मान-सम्मान, सत्कार आदि की अब उनके इच्छा ही नहीं रही, फिर वे किसी से नाराज क्यों होंगे? क्रोध क्यों करेंगे ? यह तो उनका सत्कार-पुरस्कार परीषह है, वे इस पर विजय प्राप्त करते हैं।

जिज्ञासु – उन्हें विनय, मान-सम्मान, सत्कार आदि की इच्छा क्यों नहीं रही ?

गुरूजी – क्योंकि अब उन्होंने यह भलीप्रकार जान लिया कि जिसे देखकर जगत उनका मान-सम्मान या सत्कार-पुरस्कार करता था वह सब तो पराश्रित भाव थे। उनमें मेरा कुछ भी नहीं था **तात्पर्य उनसे मेरा कुछ भी हित नहीं था। उनकी इच्छा करने से उल्टा अहित ही होता था।** इसलिए विनय, मान-सम्मान, सत्कार आदि की अब उनके इच्छा नहीं रही।

जिज्ञासु – गुरूजी ! पराश्रित भाव से क्या तात्पर्य है ?

गुरूजी – पराश्रित भाव से तात्पर्य है परकृत भाव या पर के आश्रय से होनेवाले अपने विकारी भाव/विभाव भाव।

जिज्ञासु – जैसे ?

गुरूजी – जैसे आम्रफल का रस तो उसका स्वाभाविक भाव है और उसका सड़ जाना यह विकारी भाव है, क्योंकि उसके सड़ने में कारण उसका किसी प्रतिकूल वातावरण से संपर्कित होना है।

जिज्ञासु – तब तो फिर उसके विकार में परद्रव्य कारण कहलाया।

गुरूजी – नहीं, ऐसा नहीं है। वास्तव में तो उसके विकार रूप होने में उसकी ही कमजोरी कारण है।

जिज्ञासु – वह कैसे ?

गुरूजी – देखो, एक टोकरे में 20 आम रखे थे, सबको एक ही वातावरण मिल रहा था फिर भी एक पक गया, दूसरा नहीं पका, तीसरा सड़ गया। इसका कारण उन सबकी अपनी-अपनी योग्यता ही ठहरी न।

जिज्ञासु – फिर पराश्रित क्यों कहा ?

गुरूजी – पराश्रित तो इसलिए कहा गया कि वह उस पराश्रित वातावरण से प्रभावित हो गया। उसकी दशा वास्तविक अर्थात् अपने रूप/आमरूप न रहकर पररूप हो गई, परन्तु उसे किसी ने जबरन तो सड़ाया नहीं। इसीप्रकार अज्ञान अवस्था में जो स्वयं पर से अपना बड़प्पन मानकर मान-सम्मान या सत्कार-पुरस्कार चाहते थे, अब यथार्थ स्वसंवेदन ज्ञान हो जाने पर उन्हें ऐसी इच्छा ही नहीं रही तो फिर वे किसी से नाराज क्यों होंगे ? किसी पर क्रोध क्यों करेंगे?

जिज्ञासु – तो फिर उन्हें मान-सम्मान या सत्कार-पुरस्कार मिलने पर भी अच्छा नहीं लगता होगा ?

गुरूजी – अरे भाई ! जिसने अपने उस महामहिम परमतत्त्व को पा लिया है, जिसके एक समय के अनुभव में अनंत संसार समुद्र अंजुलि जल समान रह जाता है। जिसमें अन्तर्मुहूर्त स्थिर होने से सर्व घातिकर्मों का नाश होकर विश्वप्रकाशक केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, जिनके सामने सौ-सौ इन्द्र नमस्कार करते हैं, तो भी जिन्हें मान नहीं होता तो फिर उन्हें संसारी अज्ञानी जीवों से मान-सम्मान या सत्कार-पुरस्कार मिलने पर, क्या अच्छा लगता होगा? विचार करो।

जिज्ञासु – फिर भी वे पूर्ण वीतरागी तो हैं नहीं, उन्हें कुछ तो विकल्प आता ही होगा ?

गुरूजी – तुम्हारा कहना सत्य है, पर उन्हें प्रथम तो ऐसा विकल्प पानी में खींची रेखा के समान आता है, जो तत्क्षण ही मिट जाता है, कदाचित् संज्वलन के तीव्र उदय में अल्पसमय को टिकता भी है तो उनके प्रबल भेदज्ञान से वह भी शीघ्र नष्ट हो जाता है।

जिज्ञासु – वे ऐसे समय में किसप्रकार का भेदज्ञान करते हैं?

गुरूजी – वे विचारते हैं कि कौन किसका सत्कार करता है और कौन किसका बहिष्कार, सब अपने-अपने भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। मैं भी मात्र उनका ज्ञाता-दृष्टा हूँ, सौ-सौ इन्द्र तीर्थंकर प्रभु की वंदना करते हैं – ऐसा आगम वचन है, पर वास्तव में देखा जाय तो सभी अपने-अपने सौभाग्य की ही संरचना करते हैं। ऐसा विचार कर वे अपने ज्ञाता स्वभाव में पुन: स्थिर हो, सहज ज्ञाता बने रहते हैं।

जिज्ञासु – सचमुच महान होते हैं हमारे वीतरागी मुनिराज।

चलते-फिरते सिद्धों से गुरु चरणों में शीष झुकाते हैं।
हम चलें आपके कदमों पर नित यही भावना भाते हैं।।

गुरूजी – सही कहा; जिन्हें संयोगों की पृथकता, विभावों की विपरीतता और स्वभाव की सामर्थ्य का भान हुआ है; वे फिर क्यों किसी से राग-द्वेष करेंगे? फिर उन्हें किसी को झुकाने का या किसी के सामने झुकने का भाव क्यों आयेगा?

जिज्ञासु – फिर भी पर्याय में जो कमी है, उसके अनुसार विकल्प तो आता ही होगा ?

गुरूजी – जिसकी दृष्टि में पर और पर्याय से निरपेक्ष अपना अनादिनिधन स्वभाव आ गया है, उसकी दृष्टि पर्याय पर नहीं टिकती और पर्याय की कमजोरी दूर करने का उपाय भी वे स्वयं को स्वभावसन्मुख होना ही मानते हैं। इसलिए बाह्य प्रत्येक परिस्थिति में सहज समता भाव/वीतरागभाव की ही प्रमुखता होने से वे सहज ही मान-सम्मान

या सत्कार-पुरस्कार परीषह पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

इसीलिए कहा है कि -

अरिमित्र महलमसान कंचनकांच निंदनथुति करन।
अर्घावतारन-असि प्रहारन में सदा समता धरन।।

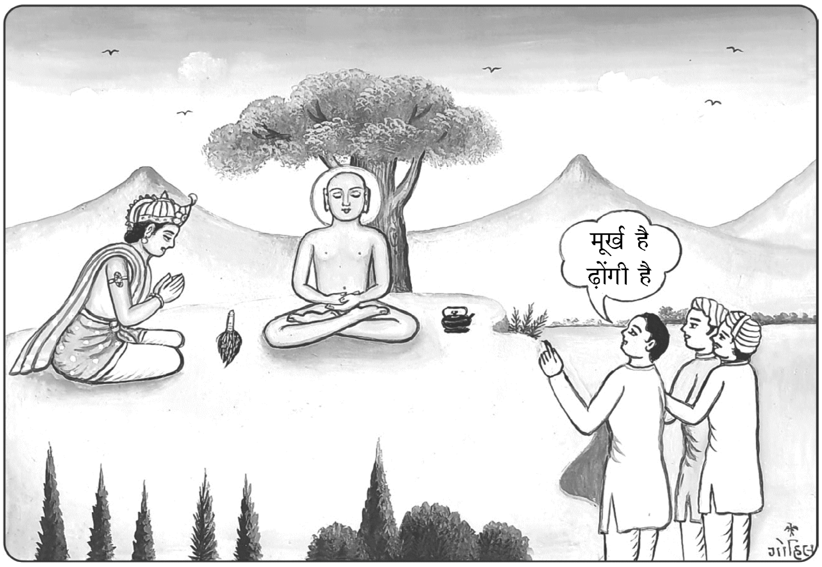

जिज्ञासु - हमारे जीवन में ऐसी दशा कब आयेगी, जब हम भी इस कषाय की भट्टी से निकलकर समतारस में सहज तृप्ति का अनुभव करेंगे और ऐसे परीषहों पर भी विजय प्राप्त कर सकेंगे।

गुरूजी - ऐसे ही तत्त्वाभ्यास पूर्वक अपने उपयोग को तत्त्वनिर्णय करने में लगाते रहो, अवश्य एक दिन हमारे जीवन में भी ऐसी दशा प्रगट होगी।

जिज्ञासु - जी गुरूजी! अब चलता हूँ, आपका बहुत-बहुत धन्यवाद! जय जिनेन्द्र!

(दोनों एक साथ मिलकर) **बोलो, सत्कार-पुरस्कार परीषह विजयी महामुनिराजों की... जय हो।**

20. प्रज्ञा परीषहजय

मंगलाचरण

ज्ञान विशिष्ट उग्र तप धारें, वादी देख हार स्वीकारें।
महाविनय मुनि तदपि सु धारें, निजरत्नत्रय निधि विस्तारें।।

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए पं. फूलचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री लिखते हैं –

अतिशय प्रज्ञा के प्राप्त हो जाने पर भी उसका गर्व न करना प्रज्ञा परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

लौकिक जन थोड़ा भी ज्ञान हो जाने पर उसका अति गर्व करने लग जाते हैं और मन में ऐसा विचारने लगते हैं कि मेरे समान कोई बुद्धिमान नहीं है; किन्तु महामुनिराज को शब्द, अर्थ, छन्द, न्याय, अलंकारादि द्वादशांग का पूर्ण ज्ञान हो अथवा अवधिज्ञान या मनःपर्यय ज्ञान हो तो भी रंचमात्र गर्व नहीं करते और बुद्धि की मन्दता होने पर खेद नहीं करते। यदि कोई व्यक्ति उन्हें बुद्धिहीन बताये तो उससे द्वेषभाव नहीं रखते – ऐसे योगी ही प्रज्ञा परीषह सहनशील होते हैं।

प्रज्ञा परीषहजय वार्ता

प्रज्ञा परीषहजय– महान ज्ञान होने पर भी उससे अभिमान नहीं करना, अपने को बड़ा नहीं मानना और अपने ज्ञानस्वभाव से ही अपने को बड़ा मानना प्रज्ञा परीषहजय है। प्रज्ञा=ज्ञान, परीषह=कष्ट।

इसप्रकार प्रज्ञा परीषह अर्थात् जो ज्ञान कष्ट का कारण हो जाता है, उसे प्रज्ञा परीषह कहते हैं और जो उस प्रज्ञा परीषह पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह प्रज्ञा परीषहजयी कहलाता है।

शंकाकार– ज्ञान तो सुख का अविनाभावी है, वह कष्ट का कारण कैसे हो सकता है?

ज्ञानी– बात तो आपकी सही है, परन्तु जिस जीव को अपने ज्ञानस्वभाव का पता नहीं है, उसका परिचय नहीं, उसका अनुभव नहीं; वह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से बाह्य में प्रगट ज्ञान से ही अपना बड़प्पन मानता है, उसका ज्ञान उसे अभिमान का कारण बन जाता है। और अभिमान/मद/गर्व तो दुख का ही कारण और दुखमय ही है।

शंकाकार– फिर दुख का कारण अभिमान को कहो, ज्ञान (प्रज्ञा) को क्यों कहते हैं ?

ज्ञानी– आप ठीक कह रहे हैं, कहावत है न कि ''अधजल गगरी छलकत जाय।''

शंकाकार– इसका मतलब ?

ज्ञानी– इसका मतलब यह है कि दुख का कारण तो मद ही है, ज्ञान नहीं; परन्तु यहाँ मद ज्ञान के स्वांग में आया है, अथवा यह जीव अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर प्राप्त प्रगट ज्ञान के आश्रय से मद करने लगा है अन्यथा जो ज्ञान से ही बना हो अथवा ज्ञान का भण्डार हो, उसे ज्ञान से अभिमान पोषण का भाव क्यों आयेगा ? अर्थात् नहीं आयेगा।

शंकाकार– हाँ, आना तो नहीं चाहिए, पर आता तो है। हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि यदि हमारा प्रवचन अच्छा हो जाये तो हम अपने को अन्य लोगों से भिन्न कुछ स्पेशल समझने लगते हैं।

ज्ञानी– हम ही क्यों ? दूसरा भी हमें बड़ा विद्वान मानने लगता है, हमारा विशेष सम्मान भी करने लगता है। और यदि कोई हमारा विशेष ध्यान न रखे या न रख पावे, तो हम उससे नाराज हो जाते हैं; क्रोध करने लगते हैं, हम उसे अव्यवहारी समझकर, व्यवहार सिखाने लगते हैं।

शंकाकार– शास्त्रों में भी ज्ञान और सुख को अविनाभावी कहा है। कहा भी है "मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ।" लोक में भी ज्ञानवान को समझदार व सुखी माना जाता है। फिर भी यहाँ ज्ञान को परीषह का, दुख का कारण कहा जा रहा है – यह बात समझ से परे है।

ज्ञानी– यद्यपि तुम्हारी यह बात पूर्णतः सत्य तथा निर्विवाद है; तथापि यहाँ जिस ज्ञान की बात की जा रही है, वह जबतक सुख का कारण या अविनाभावी होता है, तबतक तो उससे सुख ही होता है। परन्तु जब वही ज्ञान विपरीतता के साथ होता है, तब वही दुख का कारण हो जाता है। जैसे–दूध तो पौष्टिक ही होता है, यदि उसमें जहररूपी विपरीत पदार्थ का मिश्रण हो जाये, तब वह भले ही दूध नाम से कहा जाये, पर प्रतिफल तो जहररूप ही प्राप्त होता है।

शंकाकार– बिल्कुल ठीक, फिर ऐसा नहीं कहा जाता कि ये दूध 'पी लो' परन्तु ऐसा कहा जाने लगता है कि 'ये दूध मत पीना'।

ज्ञानी– बराबर ! तुम सही समझे; क्योंकि वास्तव में वह दूध तो कहने को है, सचमुच तो वह दूध के रूप में जहर ही है। इसी प्रकार जो ज्ञान अभिमान का कारण बने वह वास्तव में ज्ञान तो कहने को है, सचमुच तो वह कषाय है।

शंकाकार– उसे मान के कारण कषाय कहा – यह तो ठीक है, पर कषाय तो क्रोध, माया, लोभ एवं हास्यादि को भी कहते हैं – इनमें मानपना कैसे घटित होगा ?

ज्ञानी– भाई ! जहाँ एक कषाय होती है, वहाँ सभी कषायें होती है, मात्र अंतर इतना है कि उनके प्रगट होने का रूप भिन्न-भिन्न होता है।

शंकाकार– कैसे ? जरा स्पष्ट करो।

ज्ञानी– देखो ! यहाँ प्रज्ञा परीषह की बात चल रही है। प्रज्ञा माने ज्ञान और प्रज्ञा का अभाव माने अज्ञान। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के विरुद्ध जो कुछ भी है वह सभी अज्ञान है। जैसे 'ज्ञान' के विरुद्ध 'मान' लिया। ऐसे ही ज्ञान के विरुद्ध क्रोध, माया, लोभ एवं हास्यादि सभी प्रकार के भाव ले लेना चाहिए।

शंकाकार– थोड़ा और स्पष्ट कीजिये न ?

ज्ञानी– क्या मान के रहते हुए ज्ञान हो सकता है?

शंकाकार– नहीं।

ज्ञानी– क्या क्रोध के रहते हुए ज्ञान हो सकता है ?

शंकाकार– नहीं

ज्ञानी– इसी प्रकार सभी विकारीभावों में लगा लेना चाहिए।

शंकाकार– ये तो समझ में आ गया। पर एक प्रश्न और है कि प्रज्ञा परीषह तो अज्ञानियों के होता है, जबकि प्रज्ञा का बाहुल्य तो ज्ञानियों के होता है। जरा, इसे भी स्पष्ट कीजिये न ?

ज्ञानी– प्रज्ञा परीषह ही क्यों ? सभी परीषह, सभी विकार, सभी कष्ट अज्ञानियों को ही होते हैं।

शंकाकार– पर शास्त्रों में परीषहों की चर्चा तो मुनिराजों की अपेक्षा ही की गई है।

ज्ञानी– अरे भाई ! शास्त्रों में अकेले परीषहों की मात्र चर्चा ही नहीं की गई है, बल्कि जिन परीषहों की कल्पना मात्र से जहाँ अज्ञानी दुखी एवं अधीर होकर अपने मार्ग से विचलित हो जाता है, वहीं मुनिराज इन्हें अपने आत्मबल से सहज ही जीत लेते हैं और

अपनी साधना पूर्ण करके मोक्ष लक्ष्मी का वरण करते हैं। इसप्रकार उन्हें प्रज्ञा परीषहजय होता है।

शंकाकार– जब मुनिराजों को इतना महान ज्ञान होता है, तब फिर वे प्रतिवादियों के समक्ष चर्चा करने से क्यों घबराते हैं?

ज्ञानी– वे चर्चा करने से नहीं डरते, वे तो दिन-रात आत्मा का अनुभव या आत्मा की ही चर्चा करते हैं, पर जिन्हें आत्मा की चर्चा या अनुभव से कोई लेना-देना नहीं है और फिर भी अपनी कषाय पोषण हेतु वाद-विवाद करने के लिए तैयार रहते हैं, वे उनसे अनावश्यक वाद-विवाद नहीं करते।

शंकाकार– फिर भी जगत के अन्य जीवों से तो उन्हें विशेष ज्ञान की उपलब्धि हुई है, उन्हें जगत को यह तो बताना ही चाहिए। अन्यथा उनके विशिष्ट ज्ञान को कौन जानेगा?

ज्ञानी– भाई ! जगत जनों द्वारा की गई प्रशंसा अथवा आत्म-श्लाघा (प्रशंसा) की भावना से दूर मुनिराजों को इससे क्या फर्क पड़ता है कि उनके बारे में कौन-क्या जानता है या कौन-क्या नहीं

जानता ? ये तो हम अज्ञानियों की कमजोरी है कि चार लाइन लिखी तो छपना ही चाहिए, किसी न किसी को सुनना ही चाहिए, भले ही उसके बदले नाश्ता ही क्यों न कराना पड़े।

शंकाकार– फिर भी .....

ज्ञानी– फिर भी क्या ? वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि मैं स्वभाव से तो ज्ञान से बना हुआ हूँ, ज्ञानमय ही हूँ और वर्तमान ज्ञान कर्म के क्षयोपशम से प्रगट हुआ पराधीन है, अत: मुझे द्वादशांग अथवा अंगपूर्वों का ज्ञान भी हो, तो क्या... वह तो केवलज्ञान के सामने वैसा ही है, जैसा सूर्य के सामने जुगनू।

शंकाकार– सचमुच ! वीतरागता के पथ पर चलने वाले जगत से निष्पृही हमारे वीतरागी मुनिराज कितने महान और वैभवशाली होते हैं, क्या हम भी उनके जैसे बन सकते हैं ?

ज्ञानी– हाँ ! हाँ ! क्यों नहीं ? जिस प्रकार उनने समस्त परद्रव्यों से अपना मोह घटाकर उस मोह को मिटाने का उद्यम किया है, और अपने ज्ञानादि अनंतगुणों के वैभव को अपनी सामर्थ्य से प्रगट किया है, उसी विधि को अपनाकर हम भी उनके मार्ग पर चलकर उन जैसे बन सकते हैं।

शंकाकार– पर हम तो गृहस्थ हैं, श्रावक हैं?

ज्ञानी– सच्चा श्रावक वही होता है, जो निरन्तर मुनि बनने की भावना भाता है।

शंकाकार– इसका क्या अर्थ है?

ज्ञानी– जिसप्रकार मुनिराज सर्व बहिरंग एवं अंतरंग आरम्भ व परिग्रह का त्याग कर अपने आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं,

उसीप्रकार ज्ञानी श्रावक भी निरन्तर सर्व आरम्भ व परिग्रह के त्याग की भावना भाता है और जबतक उन्हें त्याग नहीं पाता, तबतक उनके बीच रहता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। उदासीन भाव से समय पास करता है। उनमें उपादेयबुद्धि नहीं रखता।

वह तो निरन्तर यही भावना भाता है कि '**कब धन्य सुअवसर पाऊँ, जब घर को छोड़ वन जाऊँ और निज में ही रम जाऊँ अर मुक्ति पद को पाऊँ।**'

शंकाकार– अरे, जब सच्चे श्रावक ही इतने महान होते हैं तब फिर मुनिराजों की महानता की तो बात ही कुछ अपूर्व होती होगी?

ज्ञानी– क्यों नहीं। वे सिद्धों के समान कहे जाते हैं। क्षण-क्षण में प्रचुर स्वसंवेदन कर अतीन्द्रिय आनंद का निरन्तर भोग करते हैं, तभी तो कैसे भी भयंकर परीषह, उपसर्ग आ जावें तो भी निजस्वरूप से चलायमान नहीं होते। चाहे कोई माथे पर सिगड़ी जला देवे, चाहे स्यालनी जीवित ही खाने लग जावे, चाहे कोई रुई में लपेट कर आग लगा देवे; पर वे अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, बल्कि और दृढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त कर शीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर अनंतसुखी हो जाते हैं। ऐसे होते हैं हमारे महामुनिराज।

शंकाकार– अहो ! सत्य है जिनकी दृष्टि में केवलज्ञान स्वभावी आत्मा हो और जिनका लक्ष्य केवलज्ञान हो, वे क्षणिक पराश्रित क्षयोपशम ज्ञान पर गर्व क्यों करेंगे।

ज्ञानी– अब तुम सही समझे। बोलिए, प्रज्ञा परीषहजयी महामुनिराजों की... जय हो।

21. अज्ञान परीषहजय

मंगलाचरण

जब क्षयोपशम मंद जु होवे, लब्धि ज्ञान विशेष न होवे।
भेदज्ञान से सुतप बढ़ावें, सहज पूर्ण शुद्धातम ध्यावें॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं –

विविध प्रकार की तपश्चर्या आदि के करने पर भी अवधिज्ञान आदि के प्राप्त न होने पर खेदखिन्न न होना और इसे (पौद्गलिक) कर्मफल मानना अज्ञान परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

संसारी समस्त प्राणी अज्ञानवश दुःखी हो रहे हैं, निजस्वरूप का ज्ञान नहीं है। यदि कदाचित् पढ़ने का अभ्यास करें और शब्दार्थ का लाभ न हो तो मन में खेद करते हैं और पठन से अरुचि करने लगते हैं; परन्तु महामुनिराज को पूर्वोपार्जित ज्ञानावरण कर्म के उदय से पठन-पाठन का उद्यम करने पर तथा अनेक वर्षों तक महान तप करने पर भी यदि श्रुत का पूर्ण ज्ञान नहीं होता अथवा अवधि, मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता तो भी वे खेद नहीं करते। **अपने नित्यानन्दस्वरूप में ही सन्तोष धारण करते हैं, उसे अज्ञान परीषहजय कहते हैं।**

ऐसा विकल्प नहीं करते कि देखो, मुझे तप करते हुए इतना दीर्घकाल व्यतीत हो गया फिर भी मुझे ज्ञान की वृद्धि नहीं हुई।

यदि मूढ़ पुरुष उन्हें देखकर कहे कि यह साधु कितना अज्ञानी है तो भी वे उसके वचनों से खेदखिन्न नहीं होते अथवा यदि ज्ञान की वृद्धि हो जाये तो उस ज्ञान का कभी गर्व नहीं करते। ऐसे यतीश्वर अज्ञान परीषह के जीतनेवाले कहे जाते हैं।

अज्ञान परीषहजय वार्ता

अज्ञान परीषह – अज्ञानत्व के कारण हुई अवज्ञा से ज्ञान की चाह होना अज्ञान परीषह है और अपने को ज्ञानस्वभाव के बल से उसमें खेद नहीं करना अज्ञान परीषहजय है।

पुत्र– पिताजी ! हमारी कक्षा में एक छात्र ऐसा है कि जिसे अध्यापकजी एक बार नहीं, दो बार नहीं, अनेक बार पढ़ाते हैं, अलग से समझाते हैं; फिर भी पूछने पर वह एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाता।

पिताजी– क्यों ? क्या वह अध्यापक महोदय की बात ध्यान से नहीं सुनता ?

पुत्र– नहीं पिताजी ! ऐसी बात नहीं है, वह ध्यान से सुनता भी है और समझने की पूरी-पूरी कोशिश भी करता है।

पिताजी– क्या तब भी उसकी समझ में कुछ नहीं आता ?

पुत्र– तत्काल तो उसकी समझ में आ जाता है, पर बाद में याद कुछ भी नहीं रहता।

पिताजी– वह याद ही नहीं करता होगा अथवा दुहराता ही नहीं होगा, तब फिर याद कैसे रहेगा ?

पुत्र– नहीं पिताजी ! ऐसी बात भी नहीं है, वह हमसे भी ज्यादा मेहनत करता है, सर जो भी पाठ पढ़ाते हैं, वह ध्यान से सुनता भी है, समझता भी है, लिखता भी है और याद करके दुहराता भी है, फिर भी उसे पूरा-पूरा याद नहीं रहता, बस ! कुछ ही याद रहता है, बाकी सब भूल जाता है।

पिताजी– अच्छा ... फिर तो कोई यह पूर्व के कर्म का उदय ही लगता है, जरूर पूर्व में उसने किसी के ज्ञान में विशिष्ट बाधा डाली

होगी, इसीलिए ज्ञान पर ऐसा भयंकर आवरण आ पड़ा। तुम लोग उसे चिढ़ाते तो नहीं हो ?

पुत्र– नहीं पिताजी ! मैं तो उसे बिलकुल भी परेशान नहीं करता, परन्तु हाँ ! एक तो वह स्वयं अपने को हीन व अज्ञानी मानकर दुखी रहता है और फिर कुछ शरारती छात्र उसका मजाक भी उड़ाया करते हैं, जिससे वह और अधिक दुखी हो जाता है।

पिताजी– ध्यान रखना, कहीं वह हीनभावना के कारण कुछ ऐसा-वैसा न कर बैठे ?

पुत्र– हाँ पिताजी ! वही तो मैं आपको बता रहा हूँ कि कल तो उसने दुखी होकर एक आत्मघाती कदम उठाने की कोशिश कर डाली, जिससे हम सब तो घबरा ही गये।

पिताजी– अरे ! यह तो बहुत गंभीर बात है, तुम उसे मेरे पास लाना, मैं उसे समझा दूँगा, फिर वह कभी ऐसा कदम उठाने की बात भी नहीं सोचेगा।

पुत्र– जी पिताजी !

(दूसरे दिन दोनों मित्र घर पर बैठक कक्ष में बैठे हैं, तभी पिताजी प्रवेश करते हैं। दोनों उठकर पिताजी को प्रणाम करते हैं; पश्चात् पुत्र, अपने मित्र सुयश का परिचय कराता है।)

पिताजी– बेटा ! क्या आप जानते हो ? हमारे वीतरागी दिगम्बर मुनिराजों को 22 परीषह होते हैं।

पुत्र– हाँ पिताजी ! हम सबने एक बार 22 परीषह सम्बन्धी पाठ (पद्य) भी पढ़ा था। जो मैंने बाद में याद भी कर लिया था।

पिताजी– क्या तुम्हें अभी भी याद है ?

पुत्र– हाँ, क्यों नहीं ? सुनाऊँ क्या ?

पिताजी– चलो ! प्रज्ञा परीषह का छंद सुनाओ।

पुत्र– जी !

ज्ञानविशिष्ट उग्र तप धारें, वादी देख हार स्वीकारें।
महाविनय मुनि तदपि सु धारें, निजरत्नत्रय निधि विस्तारें।।

पिताजी– और अज्ञान परीषह

पुत्र– हूँ...हाँ, याद आया। सुनिए...

जब क्षयोपशम मंद जु होवे, ज्ञानशक्ति विशेष न होवे।
भेदज्ञान से सुतप बढ़ावें, सहज पूर्ण शुद्धातम ध्यावें।।

सुयश– चाचाजी ! इसका अर्थ क्या हुआ ?

पिताजी– बेटा ! जिन मुनिराज के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हीन होता है, उनके ज्ञान शक्ति विशेष प्रकट नहीं होती, फिर भी वे मुनिराज भेदज्ञान पूर्वक सम्यक् तप बढ़ाते हैं और अपने सहज पूर्ण शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीवद्रव्य यद्यपि स्वभाव से ज्ञानमयी ही है, तथापि अनादिकाल से ज्ञानावरण आदि कर्मों से सहित होने से उसका ज्ञान कर्मों से ढका हुआ है, आच्छादित है।

सुयश– पर चाचाजी ! किसी को तो बहुत ज्ञान होता है, थोड़ा पढ़ने पर जल्दी से याद हो जाता है और किसी को बहुत कम ज्ञान होता है, बहुत पढ़ने पर भी याद नहीं होता – इसका क्या कारण है?

पिताजी– बेटा ! आखिर यह अंतर है तो इसका कोई न कोई कारण भी होना ही चाहिए; क्योंकि बिना कारण के तो कार्य होता नहीं है।

सुयश– यही तो मैं जानना चाहता हूँ कि आखिर वह कारण क्या है ? जिसके कारण हमारी ज्ञान शक्ति घटती-बढ़ती है।

पिताजी– अरे बेटे ! हमारी–तुम्हारी क्या बात ? आवरण तो समस्त संसारी जीवों के होता है। पर हाँ, जिसके द्वारा ज्ञान या ज्ञानियों के प्रति विशेष ईर्ष्या आदि होते हैं, उन्हें ज्ञानावरण कर्म का विशेष बंध होता है। अत: भविष्य में उनके इसप्रकार के कर्म का उदय तीव्र होता है, उससे उनके इन कर्मों का आवरण भी तीव्र होता है। अधिक क्या कहें ? इनका आवरण तो मुनिराजों को भी हो जाता है।

सुयश– आपने ईर्ष्या आदि कहा, तो ईर्ष्या के अतिरिक्त और कौन से कारण हैं ?

पिताजी– आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थ सूत्र के छटवें अध्याय के 10वें सूत्र में इसप्रकार लिखते हैं- ज्ञान के विषय में प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अंतराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण कर्म आस्रव के कारण हैं।

सुयश– ये तो शब्द ही बहुत कठिन लगते हैं। कृपया इनका स्वरूप बताइये ना ?

पिताजी– सुनो, जब तत्त्वज्ञान का निरूपण चल रहा हो और उसको सुनकर, सुनाने वाले के प्रति या उस तत्त्वज्ञान के प्रति भीतर ही भीतर जलते रहें – यही **प्रदोष** नामक प्रथम दोष है, इसके कारण ज्ञानावरण कर्म का आस्रव–बंध होता है।

कोई हमसे तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में कुछ पूछे या उसकी साधना हेतु कुछ साधन माँगे और वह वस्तु हमारे पास हो अथवा हमें उसके सम्बन्ध में ज्ञान हो, तब भी हम उसे नहीं देने के अभिप्राय से यह कह देवें कि मैं नहीं जानता या मेरे पास नहीं है। यही **निह्नव** नाम का दूसरा दोष है।

पुत्र– हाँ पिताजी ! आप सही कह रहे हैं, यह तो सच में बहुत

गलत बात है, जानते हुए भी न बताना और वस्तु के होने पर भी मना कर देना और ऊपर से झूँठ भी बोलना – यह तो स्पष्ट ही जघन्य कार्य है, पाप है।

सुयश– शायद इसीलिए इसका इतना भयंकर फल होता है कि पढ़कर, सुनकर, समझकर भी समझ में नहीं आता, याद नहीं रहता।

पिताजी– हाँ बेटा ! इसलिए हमें कभी भी ज्ञान या ज्ञानियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

सुयश– जी चाचाजी, अब मात्सर्य और अन्तराय के बारे में भी तो बताइये ?

पिताजी– हमें तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो गया हो, उसका पूरी तरह अभ्यास हो गया हो, उसमें निष्णात हो गये हों तथा वह ज्ञान सबको देने योग्य भी हो और हम भी देने योग्य हों; तब भी जिस कारण से वह नहीं दिया जाता है, वह मात्सर्यभाव कहलाता है। तथा ज्ञान और ज्ञान के साधनों की प्राप्ति में बाधा डालना अन्तराय है।

पुत्र– ज्ञान तो वह धन है जो देने से बढ़ता ही है, फिर भी आश्चर्य है कि आज का मनुष्य कितना कृपण हो गया है कि ज्ञान भी नहीं दे सकता। ज्ञान देता तो है ही नहीं, बल्कि कोई देता हो तो उसे विघ्न करके अन्तराय और डालता है।

पिताजी– फिर जब उसका फल मिलता है, तब दुखी होता है। यह नहीं जानता कि जो बोया था वही तो मिलेगा।

सुयश– चाचाजी ! कृपया शेष दो आसादन और उपघात का भी स्वरूप समझा दीजिये।

पिताजी– हाँ–हाँ! अवश्य, सुनो– जब कोई दूसरा व्यक्ति तत्त्वज्ञान का स्वरूप समझा रहा हो, उस समय उसे वाणी से कहकर

या हस्तादि से रोकना आसादन है। अथवा उसके ज्ञान की विनय नहीं करना, दूसरे के सामने प्रशंसा नहीं करना आदि आसादन है। यदि कोई किसी खास विषय का विशेषज्ञ हो, उसे उस विषय का निर्दोष, निर्मल, विशेष ज्ञान हो तो भी किसी अन्य विषय को बीच में लाकर उसमें दोष लगाना उपघात है। अथवा ज्ञान को अज्ञान मानकर उसके नाश का अभिप्राय/भावना रखना, उपघात है।

सुयश– इसका अर्थ तो यह हुआ कि हम किसी न किसी रूप में ज्ञान या ज्ञानियों की विराधना करते ही रहते हैं।

पिताजी– तुम सही समझे। इसमें इतना और जोड़ लो कि जब विराधना का भाव तीव्र हो तो तीव्र आस्रव–बंध होता है और जब मंद हो तब मंद आस्रव–बंध होता है।

पुत्र– पिताजी ! और हम अपने ज्ञानस्वभाव की विराधना तो नित्य करते ही हैं।

पिताजी– इसीलिए तो पूर्णज्ञान प्रगट नहीं हो रहा है।

सुयश– आपने यह भी तो कहा था कि इसका आवरण तो मुनिराजों को भी हो जाता है। इसका क्या तात्पर्य है ? क्या वे भी हमारी तरह इतने कम ज्ञान वाले होते हैं ?

पिताजी– हाँ ! क्यों नहीं ? शिवभूति मुनिराज के बारे में आता है कि उनका ज्ञान इतना हीन था कि उनके गुरू महाराज ने उन्हें मात्र इतना ही सिखाया कि '**मा रुष मा तुष**' अर्थात् किसी पर रोष (द्वेष) मत करो और किसी में संतोष (राग) मत करो, परन्तु उन्हें इतना भी याद नहीं रहा था। अतः वे **'तुष माष'** इतना ही रटते रहे।

सुयश– फिर तो उन्हें अपने इस अज्ञान पर बहुत दुख होता होगा ?

पिताजी– नहीं ! वे विचारते थे कि आखिर यह मेरे ही विराधक परिणामों का फल है, इसमें किसी दूसरे का तो दोष है नहीं। दुखी होने से तो पुनः और भी हीन कर्मों का बंध होगा।

सुयश– उन्हें जब कोई अज्ञानी कहता होगा, तब तो खेद खिन्न होते होंगे ?

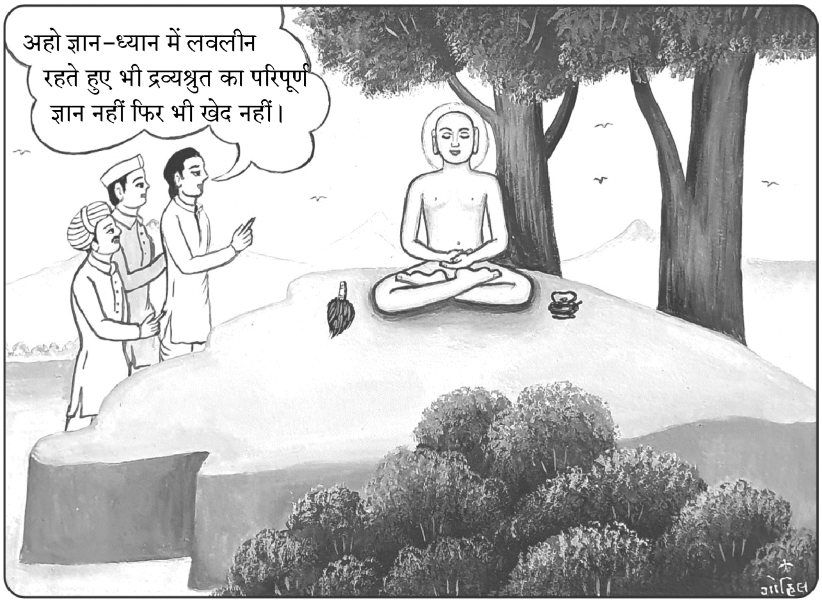

पिताजी– नहीं ! क्योंकि वे भली प्रकार यह जानते थे कि जरूर मैंने पूर्व में किसी दूसरे का ज्ञान देखकर उससे ईर्ष्या की होगी, उसको अंतराय किया होगा, उसको हीन बताया होगा, उसका निषेध किया होगा, उसमें दोष लगाया होगा, पूछने पर भी नहीं बताया होगा। इसीलिए मुझे ज्ञान की विशेषता प्रकट नहीं हो रही है।

सुयश– वे संघ में अपने को अपमानित महसूस नहीं करते होंगे क्या ?

पिताजी– नहीं ! वे यह भी भलीभाँति जानते थे कि मैं स्वभाव

से तो ज्ञानमयी हूँ, पर्याय में जो विशेष ज्ञान प्रगट नहीं है, वह ज्ञानावरणादि कर्मों के कारण आच्छादित है। जो नियम से कर्मों के निर्जरित होने पर ही प्रगट होगा। और कर्मों की निर्जरा तो अपने समय पर होगी ही, मैं परिणाम बिगाड़कर नये कर्मों का बंध करूँगा, तो पूर्वकर्मों की निर्जरा करके भी मैं कर्मरहित नहीं हो पाऊँगा। ऐसा विचार कर वे अपने ज्ञानानंद स्वभाव की ही शरण ग्रहण करते और क्षणिक संयोगों से प्रभावित नहीं होते।

सुयश– क्या उनके मन में कभी ऐसी भावना नहीं होती होगी कि अन्य मुनियों के समान मुझे भी अवधि–मनःपर्यय आदि विशेष ज्ञान प्रगट होना चाहिए ?

पिताजी– अरे ! वे तो केवलज्ञान प्रगट करने की तैयारी में जुटे थे, उन्हें क्षयोपशम ज्ञान की चाह कैसे होगी ?

सुयश– फिर क्या हुआ ? उन शिवभूति मुनिराज के लिए केवलज्ञान हुआ क्या ?

पिताजी– उन्होंने उसी भव से सर्व कर्मों का नाश कर केवल्य लक्ष्मी का वरण किया और अनंतकाल के लिए सिद्धालय में विराजमान हो गये।

पुत्र– अब समझे मित्र ! ऐसे होते हैं हमारे अज्ञान परीषहजयी दिगम्बर मुनिराज।

पिताजी– और सुयश तुम्हारी पढ़ाई कैसी चल रही है?

सुयश– बस। चाचाजी ! पूर्व में की हुई विराधना का ही फल भोग रहा हूँ।

पिताजी– क्या मतलब?

सुयश– पढ़ता तो बहुत हूँ, मन भी लगाता हूँ; पर याद नहीं

होता, थोड़ा–बहुत याद हो भी जाता है, तो शीघ्र ही भूल जाता हूँ।

पिताजी– कोई बात नहीं। घबराना नहीं, कर्मोदय का विचारकर समता रखना। अच्छे मित्रों की संगति करना, अपने को हीन मानकर अपने ज्ञानस्वभाव की तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय के योग्य प्राप्त प्रगट ज्ञान की अवहेलना नहीं करना।

सुयश– इस विचार से शांति तो मिलती है, पर ज्ञान तो नहीं बढ़ता।

पिताजी– ज्ञान भी शांति के लिए ही होता है। अतः चिंता मत करो। जब उदय टल जायेगा, तब ज्ञान भी होने लगेगा। अशांत चित्त में तो ज्ञान और दूर होता है।

सुयश– जरूर चाचाजी। आज आपके सानिध्य में अज्ञान परीषहजयी मुनिराजों की बात सुनकर मेरी बहुत बड़ी समस्या का समाधान हो गया।

बोलो, अज्ञान परीषहजयी महामुनिराजों की जय हो।

प्रश्न– मुनिराज बाह्य संयम में इतने तत्पर क्यों रहते हैं ? बाह्य संयम से मोक्षमार्ग तो होता नहीं है ?

समाधान– तत्पर तो वे एक शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म में ही होते हैं और शुभोपयोगरूप बाह्य संयम में आने पर भी शुद्धोपयोग में ही जाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहते हैं, पर जबतक शुद्धोपयोग में नहीं जा पाते तबतक अशुभ से बचने हेतु बाह्य संयम में सावधान रहते हैं। पर वे उसे मोक्षमार्ग तो मानते ही नहीं हैं, फिर भी बाह्य अनुकूलता हेतु भी कोई प्रवर्तन नहीं करते और फिर जिसमें अन्य जीवों के घात का प्रसंग बने – ऐसा कोई भी कार्य, किसी भी कीमत पर करने का परिणाम उनके जीवन में होता ही नहीं है। **ऐसा जीवन शुद्धोपयोगी मुनिराजों का सहज ही होता है, वे इसमें खींचतान नहीं करते हैं। – लेखांश**

22. अदर्शन परीषहजय

मंगलाचरण

जो ऋद्धि अतिशय नहीं होवें, तो भी निजश्रद्धा नहीं खोवें।
तत्त्व विचार सहज ही करते, शुद्ध स्वरूप चित्त में धरते॥

आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र की टीका करते हुए सिद्धान्तशास्त्री पण्डित फूलचंद्रजी लिखते हैं –

बहुत तपश्चर्या की तब भी ज्ञान का अतिशय प्राप्त नहीं हुआ। ऐसा सुना जाता है कि अमुक मुनि को बड़े अतिशय प्राप्त हुए हैं। मालूम होता है कि यह सब प्रलाप मात्र है। यह प्रव्रज्या ही निष्फल है। 'यदि इसमें कुछ भी सार होता तो मुझे वैसा माहात्म्य क्यों नहीं प्राप्त होता इत्यादि प्रकार से अश्रद्धा न होने देना और जिनोदित मार्ग में दृढ़ श्रद्धा रखना' अदर्शन परीषहजय है।

आचार्य अमृतचंद्रकृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय की टीका में पं. दौलतरामजी कासलीवाल लिखते हैं –

जगत के जीव समस्त कार्य अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए करते हैं। यदि पुरुषार्थ के करने पर भी प्रयोजन की सिद्धि न हो अथवा उसमें कुछ न्यूनता रह जाये तो क्लेश मानते हैं; परन्तु वे मुनिराज ऐसा विचार नहीं करते कि मैं बाल-अवस्था से ही महाव्रतादि धारण कर रहा हूँ और चिरकाल तक उग्रतम तप करने के बाद भी किसी ऋद्धि आदि अतिशय की प्राप्ति नहीं हुई। ऐसा विचार भी कदापि नहीं करते कि मुझे स्वाध्याय और तप करते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया। कषायों पर भी मैंने विजय प्राप्त कर ली है। संयम का भी निरतिचार पालन कर रहा हूँ। फिर भी मुझे अबतक कोई ऋद्धि उत्पन्न नहीं हुई और न कोई ज्ञानातिशय ही प्राप्त हुआ। न मालूम इस तप-संयम का कोई फल दिखाई देगा भी या नहीं ?

इसप्रकार का कोई संशय या विकल्प करके मुनिराज सम्यग्दर्शन में दोष नहीं लगाते और तप-संयम में अचल रहते हैं, इसे अदर्शन परीषहजय कहते हैं।

अदर्शन परीषहजय वार्ता

पुत्र – पिताजी ! आपकी बात न मानकर मैंने बहुत बड़ी गलती की, मुझे क्षमा करना।

पिताजी– नहीं पुत्र ! सभी कार्य अपने समय में अपनी तत्समय की योग्यता से ही होते हैं; पर तुम ऐसा क्यों कह रहे हो ?

पुत्र – फिर भी पिताजी ! यदि मैंने आपकी बात उसी समय मान ली होती तो आज लाखों रुपये का नुक्सान एवं मेरे पाँच साल का समय यों ही व्यर्थ न जाता।

पिताजी– तुम किसकी बात कर रहे हो ?

पुत्र – वही पिताजी ! जो आपने पाँच वर्ष पहले कही थी कि श्री टोडरमल महाविद्यालय जयपुर में जाकर जैनदर्शन से शास्त्री की पढ़ाई कर ले। पर मुझे अपना उज्ज्वल भविष्य (करियर) डॉक्टरी की पढ़ाई में दिखता था, लेकिन आज मेडिकल में नौकरी भी नहीं मिली और जैनधर्म भी पढ़ने को नहीं मिला।

पिताजी– तो क्या हुआ ? मेडीकल का ज्ञान तो तुम्हें हो ही गया है। नौकरी भी समय पर मिल ही जायेगी।

पुत्र – पता नहीं?

पिताजी– अब भी कुछ नहीं बिगड़ा, तुम्हें जैनधर्म पढ़ना है तो मैं तुम्हें पढ़ाऊँगा, बोलो कब से शुरू करना चाहते हो ?

पुत्र – सच पिताजी ! कब से क्या ? आज और अभी से ही शुरू कर दें।

पिताजी– तो सुनो ! वैसे तो हमें प्रारम्भ से ही जैनधर्म पढ़ना है, जो कल से विधिवत् (जैनधर्म के शास्त्रों से) शुरू करेंगे, पर तुम्हारी भावना और चित्त में व्याप्त परेशानी को दूर करने हेतु मैं तुम्हें आज कुछ मूलभूत सिद्धान्त बताता हूँ।

पुत्र – बताइये पिताजी ! मैं डायरी-पेन लेकर आता हूँ।

पिताजी– हमारे आद्य तीर्थंकर भगवान आदिनाथ स्वामी दीक्षा के बाद 1000 वर्ष तक मौन आत्मसाधना करते रहे, पर उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, फिर भी वे तुम्हारी तरह अधीर नहीं हुए। उन्होंने जिनधर्म पर अश्रद्धा नहीं की।

पुत्र – कैसी अश्रद्धा पिताजी ?

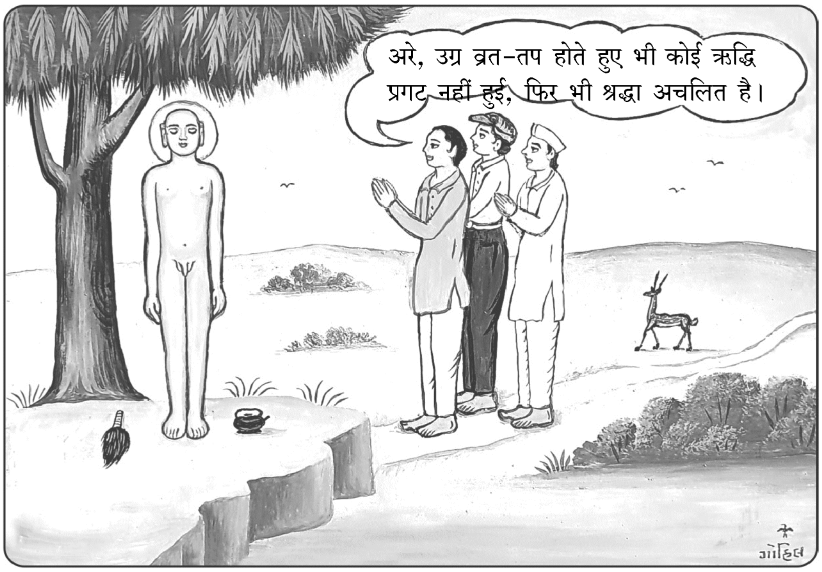

पिताजी– अरे ! ऐसी अश्रद्धा कि मैं रात-दिन 1000 वर्ष तक मौन आत्मसाधना में लीन रहा, पर फिर भी मुझे अभी तक केवलज्ञान नहीं हुआ, क्या जिनदीक्षा का कोई फल नहीं होता, क्या मेरी तपस्या व्यर्थ है, मैंने पाँच इन्द्रियों एवं चार कषायों पर विजय प्राप्त कर ली

है, फिर भी अभी तक मुझे केवलज्ञान ऋद्धि प्रगट क्यों नहीं हुई? इसीप्रकार बाहुबलि को भी...।

पुत्र – उन्हें ऐसा विचार क्यों नहीं आया ?

पिताजी– क्योंकि वे अदर्शन परीषह विजयी थे।

पुत्र – ये अदर्शन परीषह क्या होता है ?

पिताजी – 22 परीषहों में एक अदर्शन परीषह है, उस पर हमारे वीतरागी मुनिराज विजय प्राप्त करते हैं। जिनधर्म (वस्तुस्वरूप) के प्रति उनकी श्रद्धा कभी चलायमान नहीं होती।

पुत्र – क्यों चलायमान नहीं होती ?

पिताजी– क्योंकि वे जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में अपनी योग्यता से प्रगट होती है। उसे बदलने में इन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी समर्थ नहीं हैं।

पुत्र – ठीक है, परद्रव्य की पर्याय को कोई भले न पलट सके पर अपनी पर्याय को तो बदल ही सकता है?

पिताजी– नहीं, विचार करो। अपनी पर्याय भी कैसे पलट सकता है? क्या तुम्हारी मेडिकल की पढ़ाई संबंधी पर्याय कोई पलट पाया ? कोशिश तो हमने भी बहुत की थी। पर क्या हुआ ?

पुत्र – वह तो मेरी नादानी और जिद थी।

पिताजी– तब फिर उसको भी तो कोई नहीं बदल सका। तुम भी नहीं। जो होना था वही हुआ न।

पुत्र – यह तो ठीक है, पर फिर हमारा पुरुषार्थ क्या रहा ?

पिताजी– देखो, पर्यायें तीन प्रकार की होती हैं – एक भूतकाल की, जो हो चुकी हैं, उनमें कुछ करना सम्भव ही नहीं है। दूसरी भविष्यकाल की, जो अभी हैं ही नहीं उनमें भी कुछ करना सम्भव नहीं है। तीसरी वर्तमानकाल की...।

पुत्र – वर्तमानकाल की पर्याय में तो हम परिवर्तन कर ही सकते हैं, जैसे – हम मेडिकल की पढ़ाई न करके जैनधर्म की पढ़ाई कर लेते।

पिताजी– पर कर पाये क्या ? कोशिश तो बहुत की, पर हुआ तो वही कार्य (पर्याय) जो होना था। दूसरे, मुझे बताओ कि वर्तमान की होती हुई पर्याय को करोगे या नहीं होती हुई पर्याय को करोगे ? नहीं होती हुई को कर सकते नहीं और होती हुई को करना क्या, वह तो हो ही रही है। इसप्रकार वस्तुस्थिति यह है कि वास्तव में सभी द्रव्य अपनी परिणमन शक्ति से स्वयं ही परिणमन करते हैं।

पुत्र – फिर तो हमारे हाथ में कुछ रहा ही नहीं ?

पिताजी– पर में कुछ करने से ही हमें करना लगता है – यही तो सबसे बड़ी भ्रमणा है। जबकि सच बात तो यह है कि कभी भी कहीं भी कुछ भी कोई भी पर में या पर का कुछ करता ही नहीं है।

पुत्र – ऐसा क्यों कहते हो ? लोक में तो प्रत्यक्ष एक–दूसरे का कार्य करते हुए देखा जाता है।

पिताजी– नहीं, करते हुए दिखने पर भी कोई कर्त्ता नहीं है; क्योंकि यह जरूरी नहीं है कि जो हम सोचते हैं वही हो। यदि ऐसा होता तो तुम डॉक्टर बन जाते। बस, हमारी इच्छा होने का और कार्य होने का समय एक होने से हमें भ्रम हो जाता है कि कार्य हमने किया या कार्य हमारे अनुसार हुआ।

पुत्र – तब फिर वास्तव में हमारा कार्य क्या रहा ? पुरुषार्थ क्या रहा ?

पिताजी– अच्छा बताओ, हम कौन हैं ?

पुत्र – हम तो जीव हैं।

पिताजी– और जीव का काम जानना-देखना है तथा जानने-देखने में, स्व या पर को परिणमाने की बात ही कहाँ रही? **वास्तव में स्वयं परिणमते हुए को जानना ही हमारा स्वभाव है, जो ऐसा करते हैं वे, सदा सुखी रहते हैं।** जैसे – सिद्ध भगवान।

पुत्र – फिर तो हमारा वर्तमान जीवन बिलकुल अकर्मण्य एवं नीरस हो जायेगा !

पिताजी– नहीं पुत्र ! जबतक हम अपने को मनुष्य, पिता, पुत्र, भाई मानते रहेंगे तबतक हमें ऐसा लगता रहेगा कि यह करना है, वह करना है। जरा **अपने को आत्मा मानकर देखो फिर बताओ कि क्या करने का भाव आता है ?**

पुत्र – पर ऐसी दृढ़श्रद्धा क्या गृहस्थ जीवन में भी सम्भव है?

पिताजी– हाँ क्यों नहीं, यद्यपि रानी रेवती का नाम अपने दृढ़ श्रद्धान के लिए प्रसिद्ध है तथापि सभी सम्यग्दृष्टि जीवों को ऐसी ही दृढ़श्रद्धा होती है। मुनिराजों की तो बात ही क्या कहें ? उनको तो विकल्प भी नहीं आता। किन्हीं 8 वर्ष के मुनिराज को कैवल्य की प्राप्ति हो जाये और 80 वर्ष के तपस्वी मुनि को अवधिज्ञान भी न हो, तो भी उन्हें जिनधर्म पर अर्थात् वस्तुस्वरूप पर अश्रद्धा नहीं होती – यही तो होता है मुनिराजों का अदर्शन परीषहजय।

पुत्र – तब तो फिर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें, कुछ करें ही नहीं।

पिताजी– तुम कुछ करते ही कहाँ हो ? मात्र करने का विकल्प करते हो, कार्य अनुकूल हो जाय तो कहते हो कि मैंने किया, बिगड़ जाय तो कहते हो कि मैंने कोशिश तो बहुत की, पर क्या करें ऐसा ही होना था और रही हाथ पर हाथ रखने की बात, सो हाथ

भी हमारे कहाँ हैं ? अत: हाथ पर हाथ रखना यह उपचरित कथन है। **परमार्थ से तो उपयोग में उपयोग रखना ही सब दुखों से बचने का उपाय है।** जो हमारे मुनिभगवंत नित्य करते हैं और मोक्षदशा प्राप्त कर अनंतकाल तक करते रहते हैं, अनंत अव्याबाध सुख का भोग करते रहते हैं। कहा भी है – **रहि हैं अनंतानंत काल यथा तथा शिव परिणये।**

पुत्र – सचमुच हमारा जैनधर्म महानतम है और उसकी साधना करने वाले ऐसे अदर्शनांत परीषहजयी महामुनिराज ही होते हैं। उनको हमारा शत-शत बार नमन-वंदन हो। उनकी जय हो।

पिताजी ! कल से हम ऐसे जैनधर्म का नियमित रूप से स्वाध्याय करेंगे और यथार्थ निर्णय एवं अवधारण करके मोक्षमार्ग पर अग्रसर होने का सतत् प्रयत्न करेंगे।

पिताजी– पुत्र ! तुम्हारी भावना सफल हो हमारी यही भावना है। आज यहीं विराम लेते हैं।

बोलो ! जगतवंदनीय स्वरूपगुप्त अदर्शन परीषहजयी महामुनिराजों की... जय हो, 22 परीषहजयी महामुनिराजों की... जय हो।

प्रश्न– ये सभी परीषह बाह्य में देखने से तो शुभभावरूप ही भासित होते हैं। फिर इन्हें संवर का कारण क्यों कहा गया है ?

समाधान– यद्यपि इनकी बाह्य दशा शुभभावरूप लगती है, परन्तु वास्तव में उन शुद्धोपयोगी मुनिराजों को एकमात्र शुद्धोपयोग ही इष्ट लगता है। अत: वे ऐसी परीषहरूप स्थिति बनने पर अपने आपको कछुये की भाँति स्वरूप में समेट लेते हैं। इसलिए वास्तव में परीषहजय शुद्धोपयोगरूप ही हैं और संवर के कारण हैं, पर उस समय बाहर में जो कुछ दिखाई देता है वह परिणाम और क्रिया की तरफ से देखने पर शुभभावरूप लगती है। **– लेखांश**

अपूर्व अवसर

आवे कब अपूर्व अवसर जब, बाह्यान्तर होऊँ निर्ग्रन्थ।
सब सम्बन्धों के बन्धन तज, विचरूँ महत् पुरुष के पंथ॥१॥

सर्व-भाव से उदासीन हो, भोजन भी संयम के हेतु।
किंचित् ममता नहीं देह से, कार्य सभी हों मुक्ती सेतु॥२॥

प्रगट ज्ञान मिथ्यात्व रहित से, दीखे आत्म काय से भिन्न।
चरितमोह भी दूर भगाऊँ, निज-स्वभाव का ध्यान अछिन्न॥३॥

जबतक देह रहे तबतक भी, रहूँ त्रिधा मैं निज में लीन।
घोर परीषह उपसर्गों से, ध्यान न होवे मेरा क्षीण॥४॥

संयम हेतु योग प्रवर्तन, लक्ष्य स्वरूप जिनाज्ञाधीन।
क्षण-क्षण चिन्तन घटता जावे, होऊँ अन्त ज्ञान में लीन॥५॥

राग-द्वेष ना हो विषयों में, अप्रमत्त अक्षोभ सदैव।
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव से, विचरण हो निरपेक्षित एव॥६॥

क्रोध प्रति मैं क्षमा संभारूँ, मान तजूँ मार्दव भाऊँ।
माया को आर्जव से जीतूँ, वृत्ति लोभ नहिं अपनाऊँ॥७॥

उपसर्गों में क्रोध न तिलभर, चक्री वन्दे मान नहीं।
देह जाय किञ्चित् नहिं माया, सिद्धि का लोभ निदान नहीं॥८॥

नग्न वेष अरु केशलोंच, स्नान दन्त धोवन का त्याग।
नहीं रुचि शृङ्गार प्रति, निज संयम से होवे अनुराग॥९॥

शत्रु-मित्र देखूँ न किसी को, मानामान में समता हो।
जीवन-मरण दोऊ सम देखूँ, भव-शिव में न विषमता हो॥१०॥

एकाकी जंगल मरघट में, हो अडोल निज-ध्यान धरूँ।
सिंह व्याघ्र यदि तन को खायें, उनमें मैत्रीभाव धरूँ॥११॥

घोर तपश्चर्या करते, आहार अभाव में खेद नहीं।
सरस अन्न में हर्ष न रजकण, स्वर्ग ऋद्धि में भेद नहीं॥१२॥
चारित मोह पराजित होवे, आवे जहाँ अपूर्वकरण।
अनन्य चिन्तन शुद्धभाव का, क्षपक-श्रेणि पर आरोहण॥१३॥
मोह स्वयंभूरमण पार कर, क्षीण-मोह गुणस्थान वरूँ।
ध्यान शुक्ल एकत्व धार कर, केवलज्ञान प्रकाश करूँ॥१४॥
भव के बीज घातिया विनशें, होऊँ मैं कृतकृत्य तभी।
दर्श ज्ञान सुख बल अनन्तमय, विकसित हों निजभाव सभी॥१५॥
चार अघाती कर्म जहाँ पर, जली जेबरी भाँति रहे।
आयु पूर्ण हो मुक्त दशा फिर, देह मात्र भी नहीं रहे॥१६॥
मन-वच-काया-कर्मवर्गणा, के छूटें सब ही सम्बन्ध।
सूक्ष्म अयोगी गुणस्थान हो, सुखदायक अरु पूर्ण अबन्ध॥१७॥
परमाणु मात्र स्पर्श नहीं हो, निष्कलंक अरु अचल स्वरूप।
चेतन मूर्ति शुद्ध निरंजन, अगुरुलघु बस निजपद रूप॥१८॥
पूर्व प्रयोगादिक कारण वश, ऊर्ध्व गमन सिद्धालय तिष्ठ।
सादि अनन्त समाधि सुख में, दर्शन ज्ञान चरित्र अनन्त॥१९॥
जो पद श्री सर्वज्ञ ज्ञान में, कह न सके पर श्री भगवान।
वह स्वरूप फिर अन्य कहे को, अनुभवगोचर है वह ज्ञान॥२०॥
मात्र मनोरथ रूप ध्यान यह, है सामर्थ्य हीनता आज।
'रायचन्द' तो भी निश्चय मन, शीघ्र लहूँगा निजपद राज॥२१॥
सहज भावना से प्रेरित हो, हुआ स्वयं ही यह अनुवाद।
शब्द अर्थ की चूक कहीं हो, सुधी सुधार हरो अवसाद॥२२॥

➤ हमारे प्रकाशन ➤

चौबीस तीर्थंकर पुराण	(हिन्दी)	75/-
चौबीस तीर्थंकर पुराण	(गुजराती)	50/-
शिवपुर के राही (मल्टीकलर)	(श्री कानजीस्वामी का जीवनदर्शन)	50/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-1	(लघु कहानियाँ)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-2	(सगर चक्रवर्ती, वज्रवाहु, सुकौशल)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-3	(ब्रह्मगुलाल, अंगारक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-4	(श्री हनुमान चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-5	(श्री पद्म (राम) चरित्र)	25/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-6	(अकलंक-निकलंक नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-7	(अनुबद्ध केवली श्री जम्बूस्वामी)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-8	(8 अंग और 5 अणुव्रतों की कथा)	20/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-9	(शासन नायक श्री वर्द्धमान चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-10	(सुभौम चक्रवर्ती, अमरकुमार नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-11	(सती अनंगसरा,निमित्त-उपादान नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-12	(बालि मुनिराज,महारानी चेलना नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-13	(यशोधर मुनिराज, धन्यकुमार कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-14	(नाटक-राजा श्रीकंठ, पुण्यप्रकाश...)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-15	(बंधुश्री एवं लुब्धक सेठ)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-16	(सती मनोरमा एवं पं. टोडरमल नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-17	(प्रद्युम्नकुमार,जयकुमार,सूर्यमित्र कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-18	(सेठ सुदर्शन, दीवान अमरचंद नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-19	(षट् लेश्या, श्री जीवंधर चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-20	(श्री वरांग चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-21	(श्री गुरुदत्त चरित्र,सम्यक्त्वलीला नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-22	(श्री सुकमाल चरित्र, मृगध्वज कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-23	(श्रीकृष्ण, चंदनवाला कथा)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-24	(उपसर्गजयी संजयंतमुनि, राजा श्रेणिक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-25	(कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य कुन्दकुन्ददेव)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-26	(बाईस परीषह : संवाद के रूप में)	30/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-27	(तू किरण नहीं सूर्य है)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-28	(लघु कहानियाँ, एकांकी नाटक)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-29	(भरत से भगवान : एक जीवनयात्रा)	20/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-30	(भगवान पार्श्वनाथ चरित्र)	15/-
जैनधर्म की कहानियाँ भाग-31	(भगवान नेमिनाथ चरित्र)	20/-

हमारे प्रेरणा स्रोत : ब्र. हरिलाल अमृतलाल मेहता

जन्म
ई.सन् १९२४
पौष सुदी पूनम
जैतपुर (मोरबी)

देहविलय
८ दिसम्बर, १९८७
पौष वदी ३, सोनगढ़

सत्समागम
ई.सन् १९४३
अषाड़ सुदी दोज
राजकोट

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा
ई.सन् २२.२.१९४७
फागण सुदी १
(उम्र २३ वर्ष)

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अंतेवासी शिष्य, शूरवीर साधक, सिद्धहस्त, आध्यात्मिक, साहित्यकार **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** की 19 वर्ष में ही उत्कृष्ट लेखन प्रतिभा को देखकर वे सोनगढ़ से निकलने वाले आध्यात्मिक मासिक **आत्मधर्म** (गुजराती व हिन्दी) के सम्पादक बना दिये गये, जिसे उन्होंने 32 वर्ष तक अविरत संभाला। पूज्य स्वामीजी स्वयं अनेक बार उनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से इस प्रकार करते थे-

''मैं जो भाव कहता हूँ, उसे बराबर ग्रहण करके लिखते हैं, हिन्दुस्तान में दीपक लेकर ढूँढने जावें तो भी ऐसा लिखने वाला नहीं मिलेगा...।''

आपने अपने जीवन में करीब 150 पुस्तकों का लेखन/सम्पादन किया है। आपने बच्चों के लिए **जैन बालपोथी** के जो दो भाग लिखे हैं, वे लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने समग्र जीवन की अनुपम कृति **चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण**-इसे आपने 80 पुराणों एवं 60 ग्रन्थों का आधार लेकर बनाया है। आपकी रचनाओं में प्रमुखतः आत्म-प्रसिद्धि, भगवती आराधना, आत्म वैभव, नय प्रज्ञापन, वीतराग-विज्ञान (छहढ़ाला प्रवचन, भाग 1 से 6), सम्यग्दर्शन (भाग 1 से 8), अध्यात्म-संदेश, भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, अनुभव-प्रकाश प्रवचन, ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, मूल में भूल, अकलंक-निकलंक (नाटक), मंगल तीर्थयात्रा, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान हनुमान, दर्शनकथा, महासती अंजना आदि हैं।

2500वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर किये कार्यों के उपलक्ष्य में, जैन बालपोथी एवं आत्मधर्म सम्पादन इत्यादि कार्यों पर अनके बार आपको स्वर्ण-चन्द्रिकाओं द्वारा सम्मानित किया गया है।

जीवन के अन्तिम समय में आत्म-स्वरूप का घोलन करते हुए समाधि पूर्वक **''मैं ज्ञायक हूँ...मैं ज्ञायक हूँ''** की धुन बोलते हुए इस भव्यात्मा का देह विलय हुआ-यह उनकी अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी।